स्वामी रामदेव

0 2-1

महर्षि पतञ्जलि प्रणीत

योगदर्शन

[सरल हिन्दी व्याख्या सहित]

सम्पादन व व्याख्या

स्वामी रामदेव जी महाराज

दिव्य प्रकाशन

दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट)

कृपालु बाग आश्रम, कनखल,

हरिद्वार- 249408

दूरभाष : 01334-244107, 240008, 246737

e-mail : divyayoga@rediffmail.com

visit us at: www. divyayoga.com

● प्रथम मुद्रण : 2005

● योगदर्शन

● ISBN : 81-89235-34-6

प्रकाशक : दिव्य प्रकाशन,
दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट),
कृपालु बाग आश्रम, कनखल,
हरिद्वार- 249408

e-mail : divyayoga@rediffmail.com
visit us at: www. divyayoga.com

दूरभाष : 01334-244107, 240008, 246737
फैक्स- 01334-244805

मुद्रक : ऋषि ऑफसैट प्रिंटर्स, वेद मन्दिर, गीता आश्रम,
ज्वालापुर, हरिद्वार, ☎ 01334-253846

विषय सूची

सूत्रांक **सूत्र** **पृष्ठ संख्या**

समाधिपाद

साधनपाद

विभूतिपाद

कैवल्यपाद

भूमिका

महर्षि पतञ्जलि अध्यात्मिक विद्या के रहस्यमय महापुरुष हैं। वे देखने में विराधाभाषी परन्तु परम विवेकी, पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले साथ में ही प्रेम एवं समर्पण का भी पाठ पढ़ाने वाले हैं। वे साधना के पथ पर संघर्ष एवं समर्पण को, प्रार्थना एवं पुरुषार्थ को बराबर महत्त्व देते हैं। वे कहते हैं मन से पार जाने के लिए अर्थात् वृत्तिनिरोध के लिए अभ्यास एवं वैराग्य की आवश्यकता है, **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'**। महर्षि पतंजलि कहते हैं योगत्व को पाने के लिए, स्वरूपोपलब्धि के लिए **'स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः'** लम्बे समय तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक यात्रा करनी पड़ेगी, तभी साधना का लक्ष्य तुम पा सकोगे। अगले ही क्षण वे कह उठते हैं कि आत्मदर्शन के लिए समय की अपेक्षा समर्पण अधिक महत्त्वपूर्ण है, वे कहते हैं **'ईश्वरप्राणिधानाद् वा' 'तीव्रसंवेगनामासन्नः'** जिस दिन तुम्हारे भीतर समर्पण अधिक होगा, जितना तीव्र संकल्प होगा, लक्ष्य के प्रति भूख जितनी प्रबल होगी, जितना गहरा प्रेम व मुमुक्षत्व होगा, जितनी आस्था बलवती होगी, उतना ही शीघ्र तुम स्वरूप को उपलब्ध हो जाओगे। महर्षि पतञ्जलि की सम्पूर्ण साधना इस सत्य पर केन्द्रित है कि तुम्हारे ही भीतर सब कुछ है, वेद, शास्त्र, ज्ञान, भगवान्, आनन्द व शान्ति के तुम स्वयं केन्द्र हो। महर्षि पतञ्जलि का योग मन से पार प्रारम्भ होता है। वे उच्छिष्ट के संवाहक नहीं, वे परम्पराओं के निर्वाहक नहीं, वे विध्वंसक हैं, वे तुम्हारे आग्रहों को तोड़ते हैं, वे तुम्हें सब कुछ छोड़ने के लिए प्रेरित करते हैं।

वे कहते हैं **'प्रमाणविपयर्यविकल्पनिद्रास्मृतयः'** प्रमाण, विपयर्य, विकल्प, निद्रा व स्मृति से ऊपर उठो। व्यक्ति जीता है प्रमाणों में, उसे प्रमाण चाहिए वेदों का, शास्त्रों का, उपनिषदों का, कुरान, पुराण, गीता व बाइबल के प्रमाण के बिना वह किसी सत्य को, धर्म को मानने के लिए तैयार नहीं होता। मनुष्य आँखों से देखकर, कानों से सुनकर या अनुमान आदि प्रमाणों को ही ज्ञान का, जीवन का केन्द्र मानकर बैठ गया है। इससे आगे वह सोचने के लिए तैयार ही नहीं है। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि तुम सब प्रमाणों को छोड़कर आगे बढ़ जाओ। जब तक तुम आत्म शास्त्र को

नहीं पढ़ोगे, ये बाहर के शास्त्र तुम्हें भ्रमित करेंगे, तुम लड़ोगे, शास्त्रों में संघर्ष करोगे। विघटन होगा केवल बाहर के शास्त्रों से। अब तुम स्वयं से परिचित हो जाओ। तुम शास्त्रों के केन्द्र तक पहुँचो, जहाँ से वेद, शास्त्र, गीता, कुरान व बाइबल का ज्ञान पैदा हुआ। तुम उस चेतना में प्रवेश करो, फिर तुम्हारे लिए शास्त्र संवाद के क्षेत्र होंगे, विवाद के नहीं। वे व्यक्ति के अहंकार को तोड़ते हैं, वे मृत्यु के साथ नव जीवन देते हैं। वे कहते हैं तुम प्रमाण से आगे बढ़ो। विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान का बोझ न ढ़ोवो, तुम विकल्प अर्थात् कल्पनाओं में जीना छोड़ो, तुम निद्रा की तन्द्रा को भी तोड़ो। आज तक तुम्हारे जीवन में जो कुछ घटित हुआ, वह अतीत की बात हो चुकी है। तुम वहाँ मत पड़े रहो, तुम्हें वर्त्तमान में प्रवेश करना है। वर्त्तमान में जीवन्तता है, चैतन्यता है, सत्य है। अतः इन वृत्तियों में ही न उलझो, जीवन को वर्त्तमान में खोजो। वे अतीत व अनागत के बीच तुम्हें अपने चेतना केन्द्र या अस्तित्त्व से जुड़ने के लिए प्रेरित करते हैं। वे तुम्हें स्वावलम्बी बनाते हैं। महर्षि पतंजलि तुम्हें बैसाखियाँ छोड़, आत्म निर्भर बनने के लिए प्रेरित करते हैं। शास्त्र, गुरु, परम्परा, माला, तिलक, मन्दिर, मस्जिद, मठ, गुरुद्वारा, गिरजाघर, ये सब बैसाखियाँ हैं, महर्षि पतंजलि तुम्हें एक सच्चा धार्मिक और आस्तिक बनाते हैं, परन्तु वे कोई अभिनय नहीं करते, वे कहते हैं धर्म के केन्द्र तुम स्वयं हो। वे धर्म को प्रतीकों में विभाजित नहीं करते। वे तुम्हें अपनी मंजिल की ओर खुद कदम बढ़ाने के लिए प्रेरित करते हैं। वे कहते हैं **'तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'** निरन्तर सुख—दुःख, मान—अपमान, शीत, उष्ण, अनुकूलता, प्रतिकूलता, जय—पराजय में सम रहो। तप करो, आत्मचिन्तन करो। तप, संघर्ष, पुरुषार्थ, व कर्त्तव्य का निर्वहन करते हुए तुम आत्मबोध की राह पर आगे बढ़ो, साथ ही भगवान् के प्रति गहरा समर्पण रखो। इस पूरी प्रक्रिया से तुम्हारे मन के मल धुल जायेंगे, क्लेश क्षीण हो जायेंगे।

महर्षि पतंजलि किसी मूर्ति या प्रतिमा के दर्शन को ध्यान नहीं कहते, वे कहते हैं क्लेशों की पूर्ण परिसमाप्ति, यही है ईश्वर की प्राप्ति। **'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च'** **'अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः'** महर्षि कहते हैं क्रियायोग का लक्ष्य है समाधि अर्थात् संबोधि, स्वरूपोपलब्धि तथा क्लेशों की परिसमाप्ति। इसी चित्त की अशुद्धि को दूर करने के लिए वे अष्टांग योग का

उपदेश देते हैं, वे कहते हैं **'योगांगानुष्ठानाद् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः आ विवेकख्यातेः'**। महर्षि पतंजलि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि स्वरूप वाले अष्टांग योग का वर्णन करते हुए कहते हैं— **'अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः' 'शौचसन्तोषतपः- स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' 'देश-काल-समयानवछिन्नाः सार्वभौमाः महाव्रतम्'** अहिंसा, सत्य आदि सार्वभौम महाव्रत हैं। इनके पालन के बिना आत्मिक एवं वैश्विक शान्ति असम्भव है। **'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'** महर्षि पतंजलि का योग की समस्त प्रक्रियाओं एवं विधाओं के पीछे एक ही मुख्य उद्देश्य है कि अंधेरा व अशुद्धि मिटनी चाहिए। संशय, भ्रम, आग्रह टूटने चाहिए। बस फिर तुम्हें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं, सब समाधान तुम्हारे पास हैं। वे धारणा, ध्यान व समाधि के एकत्रीकरण से संयम करके सिद्धियों की उपलब्धि की बात करते हैं। **'त्रयमेकत्र संयमः' 'तज्जयात् प्रज्ञालोकः', 'तस्य भूमिषु विनियोगः'** संयम के द्वारा वे अतीत–अनागत के ज्ञान की विधि बताते हैं, वे अन्तर्धान होने का उपाय समझाते हैं, वे आकाशगमन, परकाया प्रवेश की प्रक्रिया भी सिखाते हैं, वे अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति भी करवाते हैं। महर्षि पतंजलि शरीर विज्ञान, ब्रह्माण्ड विज्ञान के रहस्यों की पर्तों को भी खोलते हैं। वे बिना आलम्बन के जल पर चलना भी सिखाते हैं, वे अग्नि में न जलना भी सिखाते हैं। वे पूर्व जन्म तथा पुनर्जन्म की रहस्यमयी बातों में भी साधकों को निपुणता दिलाते हैं।

वे व्यक्ति के भीतर की प्रतिभा को जगाते हैं। वे महान् आश्चर्यजनक योग विभूतियों की बात करते हुए तुरन्त कह उठते हैं—**'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः'** ये सिद्धियाँ समाधि में बाधक हैं, परन्तु ऐसा भी होता है, यह स्पष्टीकरण देकर वे योग के रहस्यों को भी खोलते हैं। वे कहते हैं कि तुम बाजीगर की तरह इन सिद्धियों में नहीं उलझना, मदारी की तरह इन योग की विभूतियों का खेल नहीं खेलना अन्यथा **'स्थानि-उपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनः अनिष्टप्रसंगात्'** तुम फिसल सकते हो, अतः साधक को जागरुक बनाते हैं और आडम्बर, आवरण से दूर रह वे कैवल्य का पाठ पढ़ाते हैं, वे कहते हैं— **'तद् वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्'** तुम इन सिद्धियों की उपेक्षा करके

इनसे आगे बढ़ जाना क्योंकि तुम्हें तो प्रकृति एवं पुरुष के शुद्धि–साम्य के द्वारा कैवल्य को पाना है। महर्षि पतंजलि मन से पार, प्रकृति के पार तुम्हें पूर्णता का अहसास दिलाना चाहते हैं **'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति'**। महर्षि पतंजलि प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों से साधक का परिचय करवाते हैं, वे सविकल्प, निर्विकल्प, सविचार तथा निर्विचार समाधि की विवेचना करते हैं। वे सम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा प्रकृति के महान् वैज्ञानिक की तरह पदार्थों का विश्लेषण भी करते हैं। उनकी दृष्टि पूरी तरह वैज्ञानिक है, उनकी राह सत्य, प्रेम, समर्पण एवं पूर्ण आनन्द की है। अतः वे फिर साधक को अज्ञात में ले जाते हैं और अस प्रज्ञात समाधि एवं निर्बीज समाधि के द्वारा वे साधक को भूमा में प्रवेश दिलाते हैं। **'परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैः गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'** महर्षि पतंजलि प्रकृति को स्वीकारते हुए भी **'कृतार्थं प्रति नष्टमपि अनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्'** प्रकृति की यथार्थता, नश्वरता व दुःखपूर्णता का अहसास दिलाते हैं। वे योग की एक विज्ञान की तरह व्याख्या करते हैं। प्रत्येक योग की विधा का एक सुनिश्चित प्रतिफल भी बताते हैं। वे ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग के संयोग को ही योग की पूर्णता मानते हैं। वे एकांगी नहीं हैं, वे कोई आग्रह नहीं रखते हैं। वे अपने युग के तो महान् योगी थे ही, उन जैसा योगी भविष्यत् में भी नहीं हो सकेगा क्योंकि वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ अध्यात्म की यात्रा करते हैं। वे तर्कसंगत हैं, वे बुद्धिवादियों को स्वीकार्य हैं, साथ ही विवेकपूर्वक श्रद्धा, भक्ति, सत्य एवं समर्पण का समर्थन करते हैं। वे योग के प्रथम और अन्तिम प्रमाण बन गए हैं। महर्षि योग एवं अध्यात्म का अर्थ पलायन कभी नहीं करते। वे तुम्हें भगाते नहीं, जगाते हैं। वे युद्ध एवं पलायन के बीच तुम्हें स्थिर रखते हैं। **'बह गया सो भोगी, ठहर गया सो योगी'**। वे तुम्हें स्वयं में ही स्थिर कर देते हैं। महर्षि हमें भीड़ में एकान्त और एकान्त में भीड़ कैसे पैदा होती है?, इसको समझने के लिए ऋतम्भरा देते हैं। मुझे पतंजलि इसलिए प्रिय लगते हैं क्योंकि मैं उनके उपदेशों को पूर्ण सत्य पाता हूँ चित्त व धरा के धरातल पर उनकी वाणी को खरा होता हुआ देखता हूँ। मैं स्वयं बचपन से ही बहुत ही तार्किक किन्तु धार्मिक विश्वास रखता हूँ। महर्षि पतंजलि से ज्यादा मुझे किसी ने प्रभावित नहीं किया क्योंकि यहाँ वैज्ञानिक मस्तिष्क भी हैं और श्रद्धा, सत्य एवं समर्पण से भरे हुए हृदय

से पूर्णता की अन्तर्यात्रा भी। मुझे लगता है योग सूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या से कोटि–कोटि साधकों के संशय भ्रम टूटेंगे और आध्यात्मिक जीवन की राह प्रकाशमान होगी। सूत्र मन्त्ररूप होते हैं इसलिए हमने भी अधिक व्याख्या सूत्रों की नहीं की है। जैसे–जैसे योग से हमारी चेतना का स्तर उन्नत होता जायेगा, वैसे–वैसे योग के रहस्यों के द्वार हमारे लिए खुलते जायेंगे। बुद्ध पुरुष, उन्नत कोटि के महापुरुष, स्थितप्रज्ञ व ब्रह्मनिष्ठ योगी पुरुषों का सान्निध्य भी हमें स्वतः मिलता जायेगा। बस हम साधना की राह पर आगे बढ़ते रहें, स्वयं भगवान् हमारी मदद करेंगे। मैं स्वयं एक साधक हूँ और मैं देख रहा हूँ कि सत्य स्वतः धीरे–धीरे अनावृत हो रहा है। हम सब की मंजिल है–पूर्ण सत्य की उपलब्धि, स्वरूप का बोध, अस्तित्त्व की तलाश। आओ, हम सब मिलकर श्रद्धा, समर्पण व संघर्ष के साथ, सकारात्मक दृष्टिकोण के साथ मंजिल को पाने के लिए आगे बढ़ते रहे। एक दिन निश्चित रूप से हमें अपना लक्ष्य मिलेगा, हमारा बाह्य एवं आन्तरिक जीवन बहुत ही सुन्दर होगा।

–स्वामी रामदेव
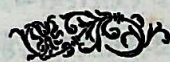
समाधिपादः

अथ योगानुशासनम् ॥1॥

शब्दार्थ– [अथ] प्रारम्भ किया जाता है [योगानुशासनम्=योगस्य अनुशासनम्] योग का शास्त्र।

सूत्रार्थ– योग के शास्त्र को आरम्भ किया जाता है ।

भावार्थ– 'अथ' शब्द किसी विषय के आरम्भ को सूचित करता है। 'अनुशासन' एक पारिभाषिक शब्द है। किसी विषय की लक्षण, भेद, उपाय तथा फल सहित व्याख्या करना 'अनुशासन' कहलाता है। 'योग' शब्द भी एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है–'समाधि'। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ यह हुआ कि आत्मबोध के इच्छुक व्यक्तियों के लिये समाधि के लक्षण, भेद, उपाय तथा फलों की व्याख्या करने वाले शास्त्र का आरम्भ किया जाता है।

जिज्ञासा– योग किसे कहते हैं ?

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥2॥

शब्दार्थ– [योगः] योग [चित्तवृत्तिनिरोधः=चित्तस्य वृत्तीनां निरोधः] चित्त की वृत्तियों का निरोध है।

सूत्रार्थ– चित्त की वृत्तियों का निरुद्ध हो जाना योग है।

भावार्थ– 'चित्त' मन को कहते हैं। मन में शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श विषयों से सम्बन्धित विचाररूपी तरंगें निरन्तर उठती रहती हैं या काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, भयं आदि से युक्त एक भावदशा-सी बनी रहती है। विचाररूपी इन तरंगों तथा रागादि से युक्त इन भावदशाओं को ही 'वृत्ति' कहते हैं। जब मन में शब्दादि-विषयात्मक तरंगें तथा रागादि से युक्त ये भावदशाएँ निरुद्ध हो जाती हैं अर्थात् रुक जाती हैं, उस अवस्था का नाम 'योग' है अर्थात् 'समाधि' है।

जिज्ञासा– चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर क्या होता है ?

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥3॥

शब्दार्थ– [तदा] तब [द्रष्टुः] द्रष्टा अर्थात् आत्मा का [स्वरूपे] अपने स्वरूप में [अवस्थानम्] ठहरना होता है।

सूत्रार्थ– चित्त की वृत्तियों के रुक जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में ठहर जाता है।

भावार्थ— समस्त इन्द्रियविषयों को देखने वाला होने से आत्मा को 'द्रष्टा' कहा जाता है। जब चित्त में उठने वाली समस्त विचाररूपी तरंगें तथा राग, द्वेष मोह आदि से युक्त भावदशायें तिरोहित हो जाती हैं अर्थात् जब समाधि-अवस्था बन जाती है, तब आत्मा अपने चेतन स्वरूप को अनुभव करने लगता है। उस चेतनस्वरूप को अनुभव करने से क्या होता है? यह तो प्रत्येक को अपने अनुभव से जानने योग्य है क्योंकि वह एक ऐसी परम तृप्ति या परम समाधान की अवस्था है कि उसे शब्दों में नहीं ढ़ाला जा सकता। बस, सांकेतिक रूप में इतना कहा जा सकता है कि उस अवस्था में पहुँचा हुआ व्यक्ति स्वयं को सफल मनोरथ, धन्यजीवन हुआ अनुभव करने लगता है।

जिज्ञासा— चित्तवृत्तिनिरोध से भिन्न अवस्था में आत्मा की क्या स्थिति होती है?

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥4॥

शब्दार्थ— [वृत्तिसारूप्यम्] वृत्तियों के साथ समानरूपता [इतरत्र] चित्तवृत्ति-निरोध से भिन्न अवस्था में होती है।

सूत्रार्थ— चित्तवृत्तिनिरोध से भिन्न अवस्था में आत्मा की वृत्तियों के साथ एकरूपता बनी रहती है।

भावार्थ— समाधि अवस्था से भिन्न अवस्था को व्युत्थान अवस्था कहते हैं। उस व्युत्थान अवस्था में आत्मा, मन मे उठने वाली शब्दादि-विषयात्मक विचारतरंगों तथा रागादि से युक्त भावदशाओं के साथ एकरूप हुआ रहता है। इस बात को इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि चित्त में उठती हुई तरंगों व भावदशाओं के कारण चित्त की अवस्था आत्यन्तिक रूप से शान्त, चंचल या मूढ-सी होती है। जब आत्मा व्युत्थान अवस्था में होता है तो वह भी स्वयं को शान्त, चंचल अथवा मूढ-सा अनुभव करता है। यही आत्मा की वृत्तिसारूप्यता है।

जिज्ञासा— चित्त में उठने वाली ये तरंगें कितने प्रकार की होती हैं?

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥5॥

शब्दार्थ— [वृत्तयः] वृत्तियाँ [पञ्चतय्यः] पाँच प्रकार की हैं, [क्लिष्टाक्लिष्टाः= क्लिष्टाः अक्लिष्टाः च] जो कि क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट होती हैं।

सूत्रार्थ— चित्त में उठने वाली वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं, जो कि क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट होती हैं।

भावार्थ— मन में उठने वाली विचारात्मक व भावात्मक तरङ्गें योगदर्शन की भाषा में 'वृत्ति' कहलाती हैं। यह हमें सतत स्मरण रखना चाहिये। सुबोधता के लिए उन्हें पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इन पाँचों नामों का अगले सूत्र में

उल्लेख किया गया है। ये पाँचों प्रकार की वृत्तियाँ भी दो-दो प्रकार की होती हैं—क्लिष्ट व अक्लिष्ट। क्लेश को पैदा करने वाली वृत्ति 'क्लिष्ट' कहलाती है अर्थात् जो वृत्तियाँ किसी व्यक्ति, वस्तु या अवस्था के प्रति हमारे मन में राग-द्वेष आदि क्लेश पैदा करती हो या पूर्वतः वर्तमान राग-द्वेष को दृढ़ करती हों, वे 'क्लिष्ट' कहलाती हैं। क्लेश को नष्ट करने वाली वृत्तियाँ 'अक्लिष्ट' कहलाती हैं अर्थात् जो वृत्तियाँ हमारे मन में पूर्वतः वर्तमान राग-द्वेष आदि क्लेशों को नष्ट करती हैं, वे 'अक्लिष्ट' कहलाती हैं। क्लिष्ट वृत्तियाँ आत्मा के जन्म-मरणरूपी बन्धन का कारण बनती हैं तथा अक्लिष्ट वृत्तियाँ आत्मा के मोक्ष का कारण बनती हैं। ध्यातव्य हैं कि ये क्लिष्ट व अक्लिष्ट वृत्तियाँ, आत्यन्तिक रूप से स्वरूपतः वृत्तियाँ ही हैं। इस सूत्र के अभिप्राय को हम निम्न प्रकार भी समझ सकते हैं—
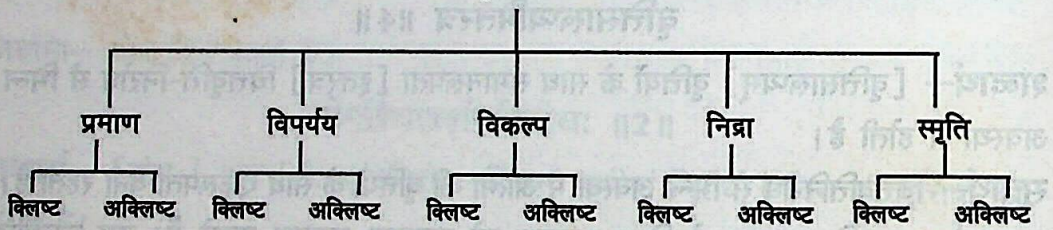
जिज्ञासा— मन में उठने वाली वे पाँच प्रकार की वृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं?

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥6॥

शब्दार्थ— मन की वे पाँच वृत्तियाँ [प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः] प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति हैं।

सूत्रार्थ— मन में उठने वाली वे पाँच प्रकार की वृत्तियाँ प्रमाण, विपयर्य, विकल्प, निद्रा व स्मृति हैं।

जिज्ञासा— इन वृत्तियों में 'प्रमाण' नामक वृत्ति का क्या स्वरूप है?

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥7॥

शब्दार्थ— [प्रत्यक्षानुमानागमाः] प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम स्वरूप वाली [प्रमाणानि] 'प्रमाण' नामक वृत्ति होती है।

सूत्रार्थ— 'प्रमाण' नामक वृत्ति प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम नामक भेदात्मक स्वरूप वाली होती है।

भावार्थ— 'प्रमाण' शब्द का अर्थ होता है—'यथार्थज्ञान'। इस प्रकार प्रकार 'प्रमाण वृत्ति' का अर्थ हुआ—'यथार्थज्ञानात्मक स्वरूप वाली वृत्ति'। यथार्थज्ञान के स्रोत की दृष्टि से 'प्रमाण' नाम की वृत्ति के प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम ये तीन भेद हैं। शास्त्रान्तरों के आधार पर इनका स्वरूप निम्नाङ्कित है—

1- प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति— किसी पदार्थ के साथ हमारी नेत्र-श्रोत्र आदि इन्द्रियों का साक्षात् सम्पर्क होने पर, हमारे मन में उस पदार्थ के विषय में जो यथार्थज्ञानात्मक वृत्ति पैदा होती है, वह 'प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति' कहलाती है।

2- अनुमान प्रमाण वृत्ति— लिङ्ग-लिङ्गी, साधन-साध्य व कार्य-कारण के सम्बन्ध से, हमारे मन में किसी पदार्थ के विषय में जो यथार्थज्ञानात्मक वृत्ति पैदा होती है, वह 'अनुमान प्रमाण वृत्ति' कहलाती है।

3- आगम प्रमाण वृत्ति— आप्त वाक्यों के श्रवण के द्वारा लौकिक व अलौकिक पदार्थों के सम्बन्ध में, हमारे मन में जो यथार्थज्ञानात्मक वृत्ति पैदा होती है, वह 'आगम प्रमाण वृत्ति' कहलाती है।

जिज्ञासा— 'विपर्यय' वृत्ति का क्या स्वरूप है?

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥8॥

शब्दार्थ— [विपर्ययः] विपयय [मिथ्याज्ञानम्] मिथ्याज्ञान है क्योंकि वह [अतद्रूपप्रतिष्ठम्] पदार्थ के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होता।

सूत्रार्थ— विपर्यय मिथ्याज्ञान है क्योंकि वह पदार्थ के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होता है।

भावार्थ— भाव यह है विपर्यय वृत्ति एक प्रकार का भ्रान्तज्ञान है क्योंकि वह तत्सम्बन्धी पदार्थ में उसी रूप में नहीं मिलता। जैसे- अन्धेरे में रस्सी को देखने पर 'यह तो साँप है' मन में ऐसी वृत्ति उठना, 'विपयर्य वृत्ति' कहलायेगी क्योंकि जब उजाला होने पर देखा जायेगा तो रस्सी में सर्प के गुण-धर्म न मिलेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ सर्प के रूप में हुआ ज्ञान, रस्सी नामधारी पदार्थ में प्रतिष्ठित नहीं है।

जिज्ञासा— 'विकल्प' वृत्ति का क्या स्वरूप है?

शब्दाज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥9॥

शब्दार्थ— [शब्दज्ञानानुपाती] शब्द से उत्पन्न ज्ञान का अनुगमन करने वाली ऐसी चित्तवृत्ति, [वस्तुशून्यः] जो विषयगत वस्तु से शून्य होती है, [विकल्पः] विकल्प वृत्ति कहलाती है।

सूत्रार्थ— शब्द से उत्पन्न ज्ञान का अनुगमन करनी वाली ऐसी चित्तवृत्ति जो विषयगत वस्तु के अस्तित्व से रहित होती है, 'विकल्प वृत्ति' कहलाती है।

भावार्थ— विकल्प वृत्ति हमारे चित्त में उत्पन्न होने वाली ऐसी वृत्ति है, जो शब्द से उत्पन्न होती है परन्तु बोधायमान वस्तुतत्व के अस्तित्व से रहित होती है। यथा-बन्ध्या का पुत्र, आकाश का फूल, खरगोश का सींग आदि।

जिज्ञासा— 'निद्रा' वृत्ति का क्या स्वरूप है?

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥10॥

शब्दार्थ— [अभावप्रत्ययालम्बना] अभाव की प्रतीति का आश्रय करने वाली [वृत्तिः] चित्तवृत्ति [निद्रा] 'निद्रा' कहलाती है।

सूत्रार्थ— जाग्रत और स्वप्न ज्ञान के अभाव की प्रतीति का आश्रय करने वाली चित्तवृत्ति 'निद्रा' कहलाती है।

भावार्थ— हमारा चित्त त्रिगुणी है। रजोगुण का धर्म क्रिया और प्रवृत्ति है। जाग्रत अवस्था में चित्त रजोगुण प्रधान होता है, जो कि सतोगुण व तमोगुण को गौणरूप से अपना सहकारी बनाकर चित्त को अस्थिर रूप से क्रिया में अर्थात् विषयों का बोध करने में प्रवृत किये रहता है। तमोगुण का धर्म स्थिति या ठहराव तथा प्रकाश व क्रिया का अवरोधन करना है। चित्त में तमोगुण की प्रधानता होने पर ही निद्रा की अवस्था उत्पन्न होती है। निद्रावस्था में तमोगुण प्रधान होकर रजोगुण व सतोगुण को दबा लेता है तथा चित्त में तमोगुण का ही परिणाम प्रधानरूप से होता रहता है इसलिये चित्त में अभाव की प्रतीति होती रहती है।

जिज्ञासा— 'स्मृति' वृत्ति का क्या स्वरूप है?

अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ॥11॥

शब्दार्थ— [अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः=अनुभूतविषयाणाम् असम्प्रमोषः] पहले अनुभव किये हुए विषय का फिर उभर आना [स्मृतिः] 'स्मृति' है।

सूत्रार्थ— 'पूर्व अनुभव किये गये विषयों का पुनः स्मरण होना' इस स्वरूप वाली चित्तवृत्ति 'स्मृति' कहलाती है।

भावार्थ— प्रमाण, विपयर्य, विकल्प व निद्रा वृत्ति द्वारा जाग्रत व सुषुप्त अवस्था में हम जिन भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि को अनुभव करते हैं, उन वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्धित अनुभव चित्त पर संस्कार अङ्कित होते रहते हैं। चित्त में संगृहीत ये संस्कार, जब चित्त के

विषय बन जाते हैं, तो पूर्व अनुभूत विषय हमें पुनः स्मरण होने लगते हैं, यही 'स्मृति वृत्ति' है। अनुभव के सदृश संस्कार होते हैं और संस्कारों के सदृश स्मृति होती है। निद्रावस्था में अभाव का अनुभव होता है? उसके संस्कारों से भी उसके सदृश स्मृति होती है। स्मृति के भी संस्कार पड़ते हैं और उनसे भी उसके सदृश स्मृति पैदा होती है।

जिज्ञासा— चित्त में उत्पन्न होने वाली इन पाँचों प्रकार की वृत्तियों को रोकने का क्या उपाय हैं?

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥12॥

शब्दार्थ— [अभ्यासवैराग्याभ्याम्] अभ्यास और वैराग्य के द्वारा [तन्निरोधः=तेषां चित्तवृत्तीनां निरोधः] उन चित्तवृत्तियों का निरोध होता है।

सूत्रार्थ— अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त में उत्पन्न होने वाली वृत्तियों का निरोध होता है।

भावार्थ— चित्त में उत्पन्न होने वाली प्रमाण आदि पाँचों प्रकार की वृत्तियों को रोकने के दो उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य। वैराग्यरूपी साधन के द्वारा चित्त का नैसर्गिक बहिर्मुखी प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है तथा अभ्यासरूपी साधन के द्वारा आत्मोन्मुखी आन्तरिक प्रवाह स्थिर हो जाता है।

जिज्ञासा— वृत्ति-निरोध के साधन 'अभ्यास' का क्या स्वरूप है?

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥13॥

शब्दार्थ— [तत्र] उन अभ्यास और वैराग्य इन दोनों साधनों में [स्थितौ] चित्त को वृत्तिरहित प्रशान्त अवस्था में बनाये रखने के लिए जो [यत्नः] प्रयास किया जाता है, वह [अभ्यासः] अभ्यास है।

सूत्रार्थ— उन अभ्यास और वैराग्य में से चित्त को वृत्तिरूपी तरङ्ग से रहित प्रशान्त अवस्था में बनाये रखने के लिए जो प्रयास किया जाता है, वह 'अभ्यास' कहलाता है।

भावार्थ— 'स्थिति' शब्द यौगिक साहित्य का एक पारिभाषिक शब्द है। चित्त की वृत्तियों से रहित होकर शान्त प्रवाह में बहने की अवस्था को योग की भाषा में 'स्थिति' कहते हैं। इस प्रकार सूत्र का शब्दशः अर्थ होगा—"चित्त की वृत्तिरहित प्रशान्त अवस्था को प्राप्त करने के लिये तथा प्राप्त होने पर उसे बनाये रखने के लिये पूर्ण सामर्थ्य से जो प्रयास किया जाता है, वह 'अभ्यास' कहलाता है।"

जिज्ञासा– राजस-तामस वृत्तियों के अनादि व प्रबल संस्कार चित्त की एकाग्रता के विरोधी हैं। उनसे घिरा हुआ चित्त एकाग्रता की स्थिति को सम्पादित करने में कैसे समर्थ होगा?

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ॥14॥

शब्दार्थ– [सः तु] वह अभ्यास तो [दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कार-आसेवितः] दीर्घकाल तक, लगातार और श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान किया हुआ [दृढभूमिः] दृढ़ आधार वाला बनता है।

सूत्रार्थ– पूर्वसूत्र में बताया गया चित्त को निस्तरङ्ग वृत्तिरहित अवस्था में बनाये रखने का अभ्यास तो दीर्घकाल तक, लगातार, श्रद्धा, उत्साह और निष्ठापूर्वक अनुष्ठान किया जाने पर दृढ अवस्था वाला हो पाता है।

भावार्थ– विषयभोगों की वासनाओं से पैदा होने वाले व्युत्थान के संस्कार मनुष्य के चित्त में अनादि जन्म-जन्मान्तरों से संगृहीत होते चले आ रहे हैं, जो कि चित्त को भली-भाँति स्थिर होने ही नहीं देते। चित्त की इस अस्थिरता को देखकर साधक को हताश नहीं होना चाहिये, बल्कि अपने चित्त की स्थिरता के अभ्यास को दृढ बनाने के लिये दीर्घकाल तक, निरन्तरता को बनाये रखते हुए श्रद्धा, निष्ठा व उत्साहपूर्वक प्रयास करते जाना चाहिये।

जिज्ञासा– वृत्ति-निरोध के द्वितीय उपाय 'वैराग्य' का क्या स्वरूप है?

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥15॥

शब्दार्थ– [दृष्ट-आनुश्रविकविषय-वितृष्णस्य] दृष्ट और आनुश्रविक विषयों में तृष्णा रहित चित्त की [वशीकारसंज्ञा] स्वाधीनत्वानुभूति [वैराग्यम्] वैराग्य कहलाती है।

सूत्रार्थ– नेत्र-श्रोत्र आदि इन्द्रियों से साक्षात् किये गये और वेद आदि शास्त्रों तथा गुरु-आचार्य आदि के माध्यम से सुने व समझे गये विषयों में तृष्णारहित चित्त की जो वशीकारमय स्वाधीनात्मक अनुभूति है, वह 'वैराग्य' कहलाती है।

व्याख्या– विषय दो प्रकार के होते हैं–दृष्ट और आनुश्रविक।

1. दृष्ट विषय– इस लोक में दृष्टिगोचर होने वाले विषय 'दृष्ट विषय' कहलाते हैं। जैसे– रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श विषय तथा धन, सम्पत्ति, अन्न-खान-पान, स्त्री, राज्य, ऐश्वर्य आदि।

2. आनुश्रविक विषय– जो विषय वेद आदि शास्त्रों में वर्णित है तथा गुरु-आचार्य आदि के माध्यम से सुने जाते हैं, 'आनुश्रविक विषय' कहलाते हैं। जैसे-देवलोक, स्वर्ग, विदेहता और प्रकृतिलयता का आनन्द तथा दिव्य रूप, दिव्य रस, दिव्य गन्ध, दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श तथा साधना करने पर प्राप्त होने वाली सिद्धियों का सुख।

इन दोनों प्रकार के दिव्य व अदिव्य विषयों में जब चित्त तृष्णा से रहित हो जाता है, तो चित्त के अन्दर एक वशीकारमय स्वाधीनत्व की अनुभति का उदय होता है, यह वशीकारमय स्वाधीनत्व की अनुभूति ही 'वैराग्य' कहलाती है। इसके उत्पन्न होने पर साधक दृष्ट व आनुश्रविक विषयों के प्रति लगाव और अलगाव दोनों प्रकार के भावों से मुक्त हो जाता है। चित्त की ऐसी दशा बन जाने पर ही चित्त में उत्पन्न होने वाली प्रमाण, विपर्यय आदि वृत्तियों का निरोध होता है।

जिज्ञासा– क्या यही वैराग्य की पराकाष्ठा है? इसका उत्तर है– नहीं, इससे आगे की भी एक अवस्था है–

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥16॥

शब्दार्थ– [तत्] वह [परम्] परवैराग्य=उच्चतम स्तर का वैराग्य है, जो [पुरुषख्यातेः] पुरुष का साक्षात्कार हो जाने से [गुणवैतृष्ण्यम्] गुणों में तृष्णा का समाप्त हो जाना है।

सूत्रार्थ– वह उच्चतम स्तर का वैराग्य है, जो आत्मा का साक्षात्कार होने से सत्व, रज तथा तम गुणों में तृष्णारहित हो जाना है।

भावार्थ– हमारा चित्त वस्तुतः एक तरङ्गायमान जलाशय की भाँति है, जिसमें सत्व, रजस् तथा तमोगुण रूपी लहरें उठती रहती है तथा रूप-रस आदि विषयों से संबन्धित चित्र बनते रहते हैं। जब योगी दृष्ट व आनुश्रविक विषयों में परिणाम-ताप आदि दुःखरूपी दोष देखकर, उन विषयों की तृष्णा से रहित हो जाता है, तो चित्त में उन विषयों से सम्बन्धित चित्र बनने बन्द हो जाते हैं, लेकिन चित्त में सत्व, रज व तम गुण की लहरें उठती रहती हैं। सत्व आदि गुणों की लहरों से तरङ्गित होते हुए भी, बाह्य विषयों से रहित होने से चित्तरूपी जलाशय इतना स्वच्छ हो जाता है कि उसके माध्यम से आत्मा को स्वयं की अनुभूति होने लगती है तथा चित्त की स्वयं से पृथक्ता का बोध होने लगता है। आत्मा को स्वयं की अनुभूति होना तथा चित्त की पृथक्ता का बोध होना ही 'पुरुषख्याति' या 'विवेकख्याति' कहलाता है। चित्त की पृथक्ता का बोध होने से तथा स्वयं की अनुभूति के होने लग जाने से आत्मा को चित्त में उदीयमान इन सत्व, रज व तमोगुण से भी वितृष्णा पैदा हो जाती है। सत्व, रज व तमोगुण में भी वितृष्णा पैदा हो जाना, वितृष्णा की पराकाष्ठा है, इसे ही योगदर्शन की भाषा में 'परवैराग्य' कहते हैं।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥17॥

शब्दार्थ— [वितर्क-विचार-आनन्द-अस्मितारूपानुगमात्] वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक परिस्थितियों के अनुगम से चित्तवृत्तियों का निरोध [सम्प्रज्ञातः] सम्प्रज्ञात समाधि कहलाता है।

सूत्रार्थ— वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक परिस्थितियों के अनुगम से चित्तवृत्तियों का निरोध सम्प्रज्ञात समाधि कहलाता है।

भावार्थ— 'सम्प्रज्ञात' एक अर्थगर्भित शब्द है। इसका अर्थ है—'ध्येयविषयक-एकाग्रतायां ध्येयविषयः सम्यक् प्रकारेण ज्ञायते यत्र स सम्प्रज्ञातः' अर्थात् ध्येयविषयक-एकाग्रता की जिस अवस्था में ध्येयविषय सम्यक् प्रकार से जाना जाय, वह अवस्था 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहलाती है। सम्प्रज्ञात समाधि की चार अवस्थाएँ बनती हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत व अस्मितानुगत।

इन अवस्थाओं को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि साधक जब किसी स्थूलविषय को आलम्बन बनाकर उसमें चित्त को एकाग्र करता है, तो चित्त अन्य विषयों से रहित हो जाता है और उसमें वह स्थूलविषय अपने स्थूलरूप में सम्यक्तया भासता है, सम्प्रज्ञात समाधि की यही अवस्था 'वितर्कानुगत' कहलाती है। ध्येयविषयक एकाग्रता के और अधिक प्रगाढ़ होने पर ध्येयवस्तु के सूक्ष्मभूतों का बोध होने लगता है, सम्प्रज्ञात समाधि की यही अवस्था 'विचारानुगत' कहलाती है। एकाग्रता के और अधिक प्रगाढ़ होने पर, सत्त्वप्रधान अहंकार का आनन्दरूप वृत्ति के साथ बोध होने लगता है, सम्प्रज्ञात समाधि की यही अवस्था 'आनन्दानुगत' कहलाती है। एकाग्रता के और अधिक प्रगाढ़ होने पर अहंकार के कारण अस्मिता का बोध होने लगता है, सम्प्रज्ञात समाधि की यही अवस्था 'अस्मितानुगत' कहलाती है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥18॥

शब्दार्थ— [विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः] विराम=वृत्तिनिरोध के साधनों के निरन्तर अभ्यासपूर्वक अन्ततः जो समाधि घटित होती है, वह [संस्कारशेषः] संस्कारमात्रशेष अवस्था वाली होती है तथा पूर्वसूत्रवर्णित समाधियों से [अन्यः] भिन्न होती है।

सूत्रार्थ— वृत्तिनिरोध के साधनों के निरन्तर अभ्यासपूर्वक जो समाधि घटित होती है, वह संस्कारमात्रशेष अवस्था वाली होती है तथा पूर्वसूत्रवर्णित समाधियों से भिन्न होती है।

भावार्थ— वृत्तियों के निरोध के साधन दार्शनिक भाषा में 'विराम' कहलाते हैं। उनका निरन्तर अभ्यास करते हुए पहले सम्प्रज्ञात समाधि घटित होती है, जिसके वितर्कानुगत, विचारानुगत

आदि स्तरों का पूर्वसूत्र में वर्णन किया गया है। उन्हीं साधनों का निरन्तर अभ्यास करते रहने पर इस सूत्र में वर्णित समाधि अवस्था घटित होती है, जो कि संस्कारमात्रशेष अवस्था वाली होती है। पूर्वसूत्रोक्त सम्प्रज्ञात समाधि से भिन्नता प्रदर्शनार्थ इसे हम 'असम्प्रज्ञात समाधि' भी कह सकते हैं।

जिज्ञासा– यह तो ठीक है कि वृत्तिनिरोध के साधनों का सतत अभ्यास करने से असम्प्रज्ञात समाधि घटित होती है, लेकिन कुछ व्यक्तियों की असम्प्रज्ञात समाधि बिना किन्हीं साधनों के अभ्यास के घटित होती देखी जाती है। वह किन की होती है? तथा स्वयमेव प्राप्त इस समाधि-अवस्था के घटित होने का क्या कारण है?

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥19॥

शब्दार्थ– [भवप्रत्ययः] जन्ममात्र कारण प्रतीत होता है जिस असम्प्रज्ञात समाधि का, वह असम्प्रज्ञात समाधि [विदेहप्रकृतिलयानाम्] विदेह और प्रकृतिलय संज्ञक योगियों की होती है।

सूत्रार्थ– जन्ममात्र कारण प्रतीत होता है जिस असम्प्रज्ञात समाधि का, वह असम्प्रज्ञात समाधि विदेह और प्रकृतिलय संज्ञक योगियों की होती है।

भावार्थ– कुछ व्यक्तियों की असम्प्रज्ञात समाधि बिना किन्हीं साधनों के अभ्यास के घटित होती देखी जाती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो जन्म लेना मात्र ही उसका कारण हो। जहाँ तक यह प्रश्न है कि वह किस प्रकार के व्यक्तियों की घटित होती है?, तो इसका उत्तर यह है कि वह विदेह और प्रकृतिलय स्तरीय योगियों की होती है। विदेह और प्रकृतिलय योगी कौन होते हैं? विदेहता और प्रकृतिलयता ये दोनों असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था के क्रमशः अन्तिम स्तर हैं। साधना करते-करते इन स्तरों तक पहुँच चुके योगी क्रमशः विदेह और प्रकृतिलय कहलाते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि विदेहता और प्रकृतिलयता के स्तर तक पहुँच चुके कुछ योगियों का किसी बाह्य या आन्तरिक कारण से देहपात हो जाता है। कर्म-संस्कारों के पूरी तरह नष्ट न होने की वजह से उन्हें पुनः जन्म लेना पड़ता है, लेकिन पूर्वजन्म में असम्प्रज्ञात समाधि की उच्चावस्था पा लेने के कारण इस जन्म में स्वतः ही उनकी असम्प्रज्ञात समाधि लगने लगती है। वस्तुतः इस प्रकार के व्यक्तियों की असम्प्रज्ञात समाधि का कारण पूर्वजन्म में किया गया वृत्तिनिरोध के साधनों का सतत अभ्यास ही है।

'भवप्रत्यय' शब्द के अर्थ को भी हमें शाब्दिक दृष्टि से समझ लेना चाहिये– 'भव' कहते हैं जन्म को और 'प्रत्यय' शब्द कारण का पर्यायवाची है। इस प्रकार 'भवप्रत्यय' शब्द का अर्थ

हुआ–'जन्ममात्र कारण प्रतीत होता है जिसका, वह असम्प्रज्ञात समाधि'।

जिज्ञासा– विदेह व प्रकृतिलय से भिन्न, जो बिल्कुल ही सामान्य साधक हैं, उन्हें असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति कैसे होती है?

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥20॥

शब्दार्थ– [श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वकः] श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, सम्प्रज्ञात समाधि व प्रज्ञापूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था बनती है, [इतरेषाम्] अन्यों की अर्थात् विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न साधकों की।

सूत्रार्थ– श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, सम्प्रज्ञात समाधि व प्रज्ञापूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था बनती है, अन्यों की अर्थात् विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न साधकों की।

भावार्थ– विदेह और प्रकृतिलय अवस्था के योग-साधकों को समाधि के साधनों के अनुष्ठान के द्वारा पूर्वजन्म में ही असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था उपलब्ध हो चुकी होती है, जिस कारण उन्हें सर्वथा प्रारम्भिक योगाङ्गों का अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं होती। उनसे भिन्न जो व्यक्ति असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं, वे उस अवस्था को योगानुष्ठान के प्रति गहन आस्था, असीम उत्साह, सतत आत्मस्मरण, समग्र एकाग्रता व पूर्ण विवेक के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। पूर्वसूत्र में वर्णित 'भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि' शब्द की अपेक्षा से इन साधनों के द्वारा प्राप्त हुई असम्प्रज्ञात समाधि को 'उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि' कहा जा सकता है।

जिज्ञासा– क्या समाधि की प्राप्ति सभी को एक निश्चित समय के बाद होती है या मन्द पुरुषार्थ-तीव्र पुरुषार्थ आदि के कारण कुछ काल-भिन्नता भी पैदा होती है?

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥21॥

शब्दार्थ– [तीव्रसंवेगानाम्] तीव्र पुरुषार्थ वालों को [आसन्नः] शीघ्र होती है समाधि की प्राप्ति।

सूत्रार्थ– तीव्र पुरुषार्थ वालों को समाधि की प्राप्ति शीघ्र होती है।

भावार्थ– प्रायः साधकों को ऐसी जिज्ञासा बनी रहती है कि लगभग कितने समय में समाधि की प्राप्ति हो जाती है? वस्तुतः समाधि की प्राप्ति में लगने वाले समय की कोई निर्धारित सीमा नहीं है। पूर्वसूत्र में गहन आस्था, असीम उत्साह, सतत आत्मस्मरण, समग्र एकाग्रता व पूर्ण विवेक को समाधि की प्राप्ति के साधन बताया गया है। जो साधक इन योग-साधनों का अनुष्ठान तीव्र पुरुषार्थ के साथ करता है, उस साधक को समाधि की प्राप्ति

शीघ्र हो जाती है तथा जिन साधकों का प्रयास मन्द होता है, उन साधकों को समाधि की प्राप्ति में बहुत लम्बा समय लग जाता है, यहाँ तक कि जन्म-जन्मान्तर भी लग जाते हैं।

जिज्ञासा— क्या यह विभाजन आत्यन्तिक है? इसका उत्तर है— नहीं।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥22॥

शब्दार्थ— [मृदु-मध्य-अधिमात्रत्वात्] तीव्र पुरुषार्थ के भी मृदु, मध्य और अधिमात्र स्तर का होना संभव होने से [ततः अपि] उस पूर्वोक्त काल-विभाजन से भी [विशेषः] विशेष विभाजन हो जाता है।

सूत्रार्थ— तीव्र पुरुषार्थ के भी मृदु, मध्य व अधिमात्र स्तर का होना संभव होने से उस पूर्वोक्त काल-विभाजन से भी विशेष विभाजन हो सकता है ।

भावार्थ— वस्तुतः पूर्वसूत्र में मोटे रूप में समाधि प्राप्ति के काल का विभाजन किया गया था कि समाधि प्राप्ति के साधनों का निष्ठापूर्वक तीव्रता से अनुष्ठान करने वालों को समाधि-अवस्था की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है तथा समाधि-प्राप्ति के साधनों का मन्द गति से अनुष्ठान करने वालों को उनकी अपेक्षा अधिक काल में समाधि-अवस्था प्राप्त होती है। लेकिन तीव्र पुरुषार्थ भी अपने आप में विभाजन की अपेक्षा रखता है क्योंकि लोक में सामान्य तीव्र पुरुषार्थी, मध्यम तीव्र पुरुषार्थी तथा अति तीव्र पुरुषार्थी व्यक्ति भी देखे जाते हैं। इसी सबको ध्यान में रखते हुए इस सूत्र में बताया गया है कि तीव्र पुरुषार्थ के भी मृदु, मध्य व अधिमात्र स्तर का होना संभव होने से तीव्र पुरुषार्थियों की समाधि प्राप्ति का काल भी क्रमशः शीघ्र, मध्यम शीघ्र व अधिकतम शीघ्र इन तीन कोटियों में विभाजित हो जाता है।

जिज्ञासा— क्या कोई उपायान्तर भी है, जिसके द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति हो सकती हो?

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥23॥

शब्दार्थ— [ईश्वरप्रणिधानात् वा] ईश्वरप्रणिधान से भी संभव है असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति।

सूत्रार्थ— ईश्वर-प्रणिधान मात्र से भी असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ— 'ईश्वर मुझे सतत देख-सुन-जान रहा है' इस तरह की जीवन्त अनुभूति को मन में बनाये हुए अपने सभी शारीरिक, वाचिक व मानसिक क्रिया-कलापों को करना तथा उन सभी क्रिया-कलापों को फल की आकांक्षा से रहित होकर अति प्रेम भाव से परम पिता प्रभु

को समर्पित करते जाना 'ईश्वर प्रणिधान' कहलाता है। मनुष्य के लिए यह बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि वह अधिकांशतया भूत या भविष्यत् में ही जीता है।

हमारे दैनिक जीवन का अत्यल्प हिस्सा ही हम वर्तमान में वर्तमान रहते हुए जीते हैं तथा द्वितीय हमारे जीवन के सभी क्रियाकलाप अत्यधिक आकांक्षा से युक्त होते हैं, यहाँ तक कि हम परोपकार के कार्यों को भी स्वर्ग या सुख आदि की आकांक्षा से युक्त होकर ही करते हैं। इन दोनों कारणों की वजह से हमारा मन निरन्तर व्युत्थित या हलचल या खलबली की अवस्था में ही रहता है। इन्हीं की वजह से हमारा मन कभी समग्र नहीं हो पाता तथा वृत्तिनिरोध की अवस्था नहीं बन पाती है। अपने दैनिक जीवन में अहर्निश ईश्वर प्रणिधान की जीवन्त भावना को सतत अपनाने से हमारे मन में एक समग्रता का आविर्भाव होता है तथा फल की आकांक्षा से रहित हो जाने की वजह से हम वर्तमान में जीना आरम्भ कर देते हैं। इन दोनों चीजों के द्वारा अन्ततः वृत्तिनिरोध घटित होकर समाधि की अवस्था बनने लगती है।

सूत्रभूमिका— ईश्वरप्रणिधान के द्वारा समाधि-अवस्था की प्राप्ति हो जाती है, यह पूर्वसूत्र में वर्णन किया गया। इससे पहले सूत्रकार के द्वारा न तो 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग किया गया और न ही कहीं उसके स्वरूप को स्पष्ट किया गया इसलिये स्वाभाविक ही है कि अब ईश्वर के स्वरूप को स्पष्ट किया जायेगा। उसी के विषय में मैं पाठकों से दो शब्द कहना चाहूँगा कि पदार्थ, क्रिया आदि विषयक स्व-अनुभूतियों को हम भाषा के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। लेकिन भाषाकृत अभिव्यक्तिकरण पर यदि हम सूक्ष्मता से दृष्टिपात करें, तो हम महसूस करेंगे कि भाषा के द्वारा वस्तु, किसी घटना, अवस्था आदि के स्वरूप की पूर्ण-अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। हम कितना भी प्रयास करें कहीं न कहीं अपूर्णता बनी ही रहती है। यदि हम अपनी ओर से संतोषजनक अभिव्यक्ति कर भी दें, तो भी पाठक या श्रोता के कुछ और ही समझ लेने की संभावना सदैव बनी रहती है, विशेषकर तब, जब कि पाठक उस वस्तु से साक्षात् अपरिचित हो और अभिव्यक्ति सूत्ररूप में की गयी हो।

आध्यात्मिक शास्त्रों के साथ ऐसा अनादि काल से होता चला आ रहा है। उनमें वर्णित आत्मा, ईश्वर, प्रकृति, मोक्ष आदि से हम तो आनुभूतिक रूप से साक्षात् परिचित हैं नहीं और अधिकांश वर्णन सूत्ररूप में है इसलिये कुछ का कुछ समझ लिया गया है, जो कि अन्ततः पारस्परिक विवाद का कारण बना हुआ है। आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, मोक्ष, कर्मफल आदि के स्वरूप को लेकर ईसाई, इस्लामी, जैनी, बौद्ध, सनातन धर्मी और आर्यसमाजी आपस में झगड़ रहें हैं। इतना ही नहीं, इन्हीं चीजों के स्वरूप को विषय बनाकर सनातनी भी आपस में झगड़

रहे हैं और यहीं पर अन्त नहीं आ जाता, इन्हीं को विषय बनाकर आर्यसमाजी भी आपस में झगड़ रहे हैं।

यह स्थिति शोकात्मक भी है और हास्यास्पद भी। इस स्थिति को देखते हुए मेरा पाठकों से नम्र निवेदन है कि शब्दों के द्वारा स्पष्ट से प्रतीत हुए आत्मा, परमात्मा आदि के स्वरूप के विषय में हमें अति-आग्रही नहीं होना चाहिये, साधना के द्वारा इन चीजों का प्रत्यक्ष कर लेने से पूर्व अपने वक्तव्यों में 'ही' शब्द का प्रयोग करने से बचना चाहिये। आगामी तीन सूत्रों में सूत्रकार ने ईश्वर के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। सूत्रों के शब्द साधारण हैं, लेकिन अर्थ गूढ़ है, रहस्य से भरा है। सूत्रों को पढ़कर उनके अर्थों को समझकर कहीं आप 'मैनें जान लिया' 'मुझे सर्वथा समझ में आ गया' की धारणा से ग्रस्त होने से स्वयं को वचा सकें, ऐसी आकांक्षा को मन में रखकर यह पूर्वसंकेत किया है।

जिज्ञासा– ईश्वर कौन है? तथा उसका क्या स्वरूप है?

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥24॥

शब्दार्थ– [क्लेश-कर्म-विपाक-आशयैः] क्लेश, कर्म, विपाक और आशयों से [अपरामृष्टः]अछूता [पुरुषविशेषः] चेतनतत्त्वविशेष [ईश्वरः] ईश्वर है।

सूत्रार्थ– क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अछूता चेतनतत्त्वविशेष ईश्वर है।

भावार्थ– सर्वप्रथम क्लेश, कर्म आदि के स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है–

1. **क्लेश**– 'क्लिश्नाति इति क्लेशः' अर्थात् जो कष्ट देता है, वह क्लेश कहलाता है। वे पाँच है–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश।
2. **कर्म**– इन अविद्या आदि क्लेशों से प्रेरित होकर शरीर, वाणी व मन के द्वारा, जो भी चेष्टा की जाती है, वह 'कर्म' कहलाती है। वह तीन प्रकार की होती है– 1. पुण्यात्मक, 2. पापात्मक, 3. पुण्यपापात्मक।
3. **विपाक**– कर्मों का फल 'विपाक' कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है– 1. सुखात्मक 2. दुःखात्मक।
4. **आशय**– शरीर, मन आदि के द्वारा की गयी सभी पुण्यात्मक, पापात्मक व पुण्यपापात्मक कर्म-चेष्टाएँ हमारे चित्त में संस्काररूप में संचित रहती हैं। ये कर्म-चेष्टाएँ अनुकूल वासना के उपलब्ध होने पर सुख-दुःख के रूप में फलीभूत होती हैं। इन वासनाओं को ही योग शास्त्र की भाषावली में 'आशय' कहा जाता है।

वह पुरुषविशेष जिसके प्रति मनसा, वाचा, कर्मणा समर्पित हो जाने से साधक को समाधि-अवस्था प्राप्त हो जाती है, इन क्लेश, कर्म, विपाक आदि के संस्पर्श से अछूता है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥25॥

शब्दार्थ– [तत्र] उस ईश्वर में [निरतिशयम्] अतिशयता से रहित [सर्वज्ञबीजम्] सर्वज्ञता का मूल विद्यमान है।

सूत्रार्थ– उस ईश्वर में घटत-बढत से रहित सर्वज्ञता का मूल विद्यमान है।

भावार्थ– भाव यह है कि वह ईश्वर नामक पुरुषविशेष सर्वज्ञ है।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥26॥

शब्दार्थ– [सः] वह ईश्वर नामक चेतनतत्वविशेष [पूर्वेषाम् अपि] पूर्वकाल में हुए आत्मज्ञानेच्छुकों का भी [गुरुः] गुरु है, [कालेन] काल के द्वारा [अनवच्छेदात्] सीमित न होने के कारण।

सूत्रार्थ– वह ईश्वर नामक चेतनतत्वविशेष पहले हो चुके आत्मज्ञानियों का भी गुरु है, काल के द्वारा सीमित न होने से।

भावार्थ– ईश्वर प्रणिधान रूपी नौका से समाधि रूपी लक्ष्य तक पहुँचने के इच्छुक साधकों को इस सूत्र के अर्थ को ध्यान से समझना चाहिये। सूत्र का वक्तव्य है–"वह ईश्वर पूर्वकाल में हुए आत्मज्ञानेच्छुकों का भी गुरु है, काल के द्वारा सीमित न होने से।" इस वक्तव्य को यदि आप गम्भीर होकर देखेंगे तो महसूस करेंगे कि पूर्वकाल में हुए आत्मज्ञानियों के प्रति ईश्वर की गुरुता को कहकर, उस गुरुता के हेतुरूप में गुरु की काल के द्वारा असीमितता को दिखाना बिल्कुल ही असंगत है क्योंकि पूर्वकाल में ही वे आत्मज्ञान के इच्छुक हुए और पूर्वकाल में ही ईश्वर की उनके प्रति गुरुता घटित हुई, तदर्थ ईश्वर को काल के द्वारा असीमित होने की कोई जरूरत ही नहीं है। वस्तुतः सूत्र का वास्तविक वक्तव्य ऐसा नहीं है। सूत्रकार कुछ और कहना चाहते हैं। वे कहना चाहते हैं कि–"वह ईश्वर पूर्वकाल में हुए कुछ आत्मज्ञानेच्छुकों का भी मार्गदर्शक बना था और अब भी यदि कोई चाहेगा, तो उसका मार्गदर्शक बन जायेगा, काल के द्वारा सीमित न होने से।" अर्थात् वह ईश्वर नाम चेतनतत्त्व नित्य है, सार्वकालिक है। जहाँ तक ये प्रश्न है कि पूर्वकाल में किन का मार्गदर्शक बना ? और वर्तमान काल में किन का मार्गदर्शक बनेगा ? तो इनका उत्तर सीधा-साधा है कि जिन्होनें बनाया चाहा और जो बनाना चाहेंगे। अब यदि कोई पूछे कि किन्होंने बनाया चाहा और कौन बनाना चाहेंगें ? तो इसका उत्तर भी बिल्कुल

सीधा-साधा है कि जो ईश्वर-प्रणिधान की नौका के माध्यम से समाधि नामक गन्तव्य तक पहुँचना चाहते थे, चाहते हैं और चाहेंगे, उनका मार्गदर्शक बना था, बना हुआ है तथा आगे भी बनेगा।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥27॥

शब्दार्थ— [तस्य] उस ईश्वर नामक चेतनतत्त्व के अस्तित्व का [वाचकः] बोध कराने वाला शब्द [प्रणवः] 'ओ३म्' है।

सूत्रार्थ— उस ईश्वर नामक चेतनतत्त्वविशेष के अस्तित्व का बोध कराने वाला शब्द ध्वन्यात्मक 'ओ३म्' शब्द है।

भावार्थ— ईश्वर के वाचक 'ओ३म्' शब्द के विषय में ध्यातव्य है कि ध्वन्यात्मक 'ओ३म्' ही ईश्वर का बोधक है, अक्षरात्मक 'ओ३म्' शब्द नहीं। उसी ध्वन्यात्मक 'ओ३म्' का आगे जप क्रिया में उपयोग बताया गया है। जहाँ तक ये प्रश्न हैं कि वेदादि शस्त्रों में वर्णित हिरण्यगर्भ, पूषन् आदि शब्द ईश्वर बोधक क्यों नही हैं ? और 'ओ३म्' भी ध्वन्यात्मक ही क्यों, अक्षरात्मक क्यों नहीं ? इनका उत्तर बहुत विस्तार की अपेक्षा रखता है। इनका उत्तर किसी अन्य अपेक्षित स्थान पर दिया जायेगा। 'ओ३म्' ध्वनि का उपयोग जप के लिए किया जाता है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥28॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥29॥

शब्दार्थ— [तज्जपः] उस ईश्वरबोधक-शब्द का पुनः-पुनः उच्चारण [तदर्थभावनम्] उसके अर्थ की भावनापूर्वक करना चाहिये। [ततः] उससे अर्थात् पुनः-पुनः उच्चारणरूप जप-क्रिया से [प्रत्यक्चेतनाधिगमः] आत्मा का साक्षात्कार होता है [अपि अन्तरायाभावः च] तथा समाधि-विघ्नों का अभाव भी हो जाता है ॥29॥

सूत्रार्थ— उस ईश्वरबोधक 'ओ३म्' शब्द के पुनः-पुनः उच्चारणपूर्वक उसके अर्थ की भावना करनी चाहिये ॥28॥ [यह जप की विधि है]

जप के करने से साधक को स्व-आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है तथा समाधि-विघ्नों का नाश भी हो जाता है ॥29॥ [यह जप का परिणाम है]

भावार्थ— 'ओ३म्' ध्वनि का उपयोग जप के लिए किया जाता है। वस्तुतः वृत्तिनिरोध की अवस्था तक पहुँचने के लिये जप भी एक सशक्त साधन है। जप की प्रक्रिया के द्वारा अन्ततः वृत्तियों का निरुद्ध हो जाना घटित होता है। उपरोक्त सूत्र में जप करने की विधि बतायी गयी

है। जप करने की विधि यह है कि प्रथम 'ओ३म् शब्द का उच्चारण करना चाहिये तथा उसके साथ-साथ ईश्वर के स्वरूप का स्मरण करना चाहिये। यह दो प्रकार से हो सकता है—प्रथम वाचिकरूप से तथा द्वितीय मानसिकरूप से।

वाचिक जप में प्रथम 'ओ३म्' शब्द का मध्यम ध्वनि से लम्बा उच्चारण करना चाहिये तथा उसके साथ-साथ ईश्वर के क्लेश-कर्म-विपाक-आशय से अपरामृष्ट स्वरूप का भावनात्मक स्मरण करना चाहिये।

मानसिक जप में ओ३म्' शब्द का उच्चारण जिह्वा से न करके, मंन से करना चाहिये तथा उसके साथ-साथ ईश्वर के क्लेश-कर्म-विपाक-आशय से अपरामृष्ट स्वरूप का भावनात्मक स्मरण करना चाहिये।

जप करने का एक तृतीय प्रकार भी है। शास्त्रों में इसे अजपा-जप कहा गया है। इसकी विधि इस प्रकार है कि मानसिक जप को तन्मय होकर करते-करते कुछ दिनों बाद ऐसा हो जाता है कि मानसिक जप का क्रिया-कलाप मन की यान्त्रिक प्रक्रिया के तहत स्वतः होने लगता है, यहाँ तक कि सारा दिन भर तथा रात में सोते में भी मानसिक रूप से वह चालू रहता है। ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाने पर स्वतः चलायमान, उस मानसिक जप को श्रोताभाव से तन्मय होकर सुनना अजपा-जप कहलाता है। मानसिक जप को तन्मय होकर सुनते-सुनते अन्ततः ऐसा घटित होता है कि मन का स्वचालित क्रिया-कलाप अचानक तिरोहित-सा हो जाता है और साधक को सतत गुञ्जायमान 'ओ३म्' सदृश एक ध्वनि सुनने लगती है। यह नादात्मक-ध्वनि भी साधक के अन्तःकरण को गहन शान्ति प्रदान करती है। साधक इसी में डूब जाना चाहता है और डूब ही जाना चाहिये। उसके बाद अनायास ही यह सब भी खो जाता है, साधक वृत्तिनिरोध की अवस्था में पहुँच अपने द्रष्टा-स्वरूप में अवस्थित हो जाता है अर्थात् अपने होने मात्र को अनुभव करता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, यही सम्प्रज्ञात समाधि या आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है। यही अवस्था जब और गहरी होती जाती है, तो धीरे-धीरे सृष्टि के अणु-अणु में परिव्याप्त द्रष्टारूप परम चेतन की अनुभूति होनी आरम्भ हो जाती है, मेरे विचार से वही परमात्म-साक्षात्कार, परब्रह्म-साक्षात्कार या असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है।

मेरा मानना है कि इतना होने के बाद उस साधक को कुछ सीखने के लिए किसी गुरु आदि के पास जाने की आवश्यकता नहीं रहती। शायद इसी अवस्था को कबीर साहेब ने "साहेब मिले साहेब भये" शब्दों के द्वारा कहा है तथा इसी अवस्था को उपनिषद् में "भिद्यन्ते हृदयग्रन्थयः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे " शब्दों के द्वारा कहा गया है। आत्मा की द्रष्टारूप स्व-स्वरूप में अवस्थिति की अवस्था भी इतनी तृप्तिदायक

सूत्रार्थ– व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व, अनवस्थितत्व ये चित्त के विक्षेप हैं तथा समाधि की प्राप्ति में बाधारूप हैं।

भावार्थ– व्याधि-स्त्यान आदि ऐसी शारीरिक व मानसिक अवस्थाएं हैं, जो कि चित्त में विक्षेप अर्थात् खलबली या हलचल पैदा कर देती हैं तथा ऐसी प्रत्येक चीज, जो कि चित्त में हलचल पैदा करती हो, समाधि की अवस्था बनने में बाधा बन जाती है। इसी कारण व्याधि-स्त्यान आदि को समाधि-अन्तराय या समाधि-विघ्न कहा गया है। इनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है–

1. **व्याधि–** शरीर व मन के स्वाभाविक क्रियाकलापों में पैदा हुआ किसी भी प्रकार का व्यवधान 'व्याधि' कहलाता है। आयुर्वेद में इस व्यवधान का कारण वात, पित्त व कफ की विषमता बताया गया है।
2. **स्त्यान–** चित्त की अकर्मण्यता 'स्त्यान' कहलाती है।
3. **संशय–** किसी विषय के सकारात्मक व नकारात्मक ध्रुवों को मानसिक विचारणा के माध्यम से साथ-साथ छूना 'संशय' कहलाता है। यथा–मै योगमार्ग पर चल सकूँगा या नही। योगमार्ग पर चलने पर भी मुझे समाधि-अवस्था प्राप्त होगी या नही। यह संशय की अवस्था है।
4. **प्रमाद–** योग के साधनों का अनुष्ठान न करना 'प्रमाद' कहलाता है।
5. **आलस्य–** शरीर व चित्त का भारीपन 'आलस्य' कहलाता है।
6. **अविरति–** चित्त में विषयभोगात्मक लालसा का पैदा हो जाना अर्थात् रूप-रस आदि ऐन्द्रिक विषयों को भोगने की इच्छा का पैदा हो जाना 'अविरति' कहलाता है। इसे हम अवैराग्य की अवस्था भी कह सकते हैं।
7. **भ्रान्तिज्ञान–** मिथ्याज्ञान को ही 'भ्रान्तिज्ञान' कहते हैं। यथा– योग के साधनों के अनुष्ठान को व्यर्थ मानना।
8. **अलब्धभूमिकत्व–** समाधि की अवस्था न बन पाना 'अलब्धभूमिकत्व' कहलाता है।
9. **अनवस्थितत्व–** प्राप्त कर ली गयी समाधि की अवस्था का स्थिर न हो पाना 'अनवस्थितत्व' कहलाता है।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥31॥

शब्दार्थ– [दुःख......प्रश्वासाः] दुःख, हताशा, शरीराङ्गो में सूक्ष्म कंपकपी, असहज श्वास-प्रश्वास ये सब [विक्षेपसहभुवः] पूर्वोक्त चित्तविक्षेपों के साथ-साथ होते हैं।

सूत्रार्थ– दुःख, हताशा, शरीराङ्गों में सूक्ष्म कंपकपी, असहज श्वास-प्रश्वास ये सब पूर्वोक्त चित्तविक्षेपों के साथ-साथ पैदा हो जाते हैं।

8. **अलब्धभूमिकत्व**— समाधि की अवस्था न बन पाना 'अलब्धभूमिकत्व' कहलाता है।

9. **अनवस्थितत्व**— प्राप्त कर ली गयी समाधि की अवस्था का स्थिर न हो पाना 'अनवस्थितत्व' कहलाता है।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥31॥

शब्दार्थ— [दुःख......प्रश्वासाः] दुःख, हताशा, शरीराङ्गो में सूक्ष्म कंपकपी, असहज श्वास-प्रश्वास ये सब [विक्षेपसहभुवः] विक्षेप सहभागी हैं।

सूत्रार्थ— दुःख, हताशा, शरीराङ्गों में सूक्ष्म कंपकपी, असहज श्वास-प्रश्वास विक्षेप सहभागी हैं अर्थात् ये सब पूर्वोक्त चित्तविक्षेपों के साथ-साथ पैदा हो जाते हैं।

भावार्थ— जब पूर्वसूत्र में कहे गये व्याधि-स्त्यान आदि समाधि के विघ्न होते हैं, तो अधिकांशतया उनके साथ-साथ एक प्रकार का मानसिक दुःख-सा, हताशा-सी, शरीर के अङ्गों में सूक्ष्म कंपकपी-सी तथा लयहीन श्वास-प्रश्वास भी पैदा हो जाते हैं। ये भी व्याधि-स्त्यान आदि की भाँति समाधि-अवस्था की प्राप्ति में बाधक हैं क्योंकि ये भी चित्त में एक प्रकार का क्षोभ या हलचल-सी पैदा कर देते हैं और यह पूर्वसूत्र में बताया जा चुका है कि प्रत्येक वह चीज समाधि-अवस्था के आविर्भाव में बाधक बन जाती है, जो कि चित्त में विक्षोभ पैदा करती हो।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥32॥

शब्दार्थ— [तत्प्रतिषेधार्थम्] उन दुःख आदि उपविक्षेपों के निराकरण के लिए [एकतत्त्वाभ्यासः] एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये।

सूत्रार्थ— उन दुःख आदि उपविक्षेपों के निराकरण के लिये एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये।

भावार्थ— 'ततः प्रत्यक्चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च' सूत्र में जप की प्रक्रिया के द्वारा व्याधि, स्त्यान आदि विक्षेपों का नष्ट हो जाना बता दिया गया है तथा यह भी पूर्वसूत्र में स्पष्ट किया जा चुका है कि जब साधक व्याधि, स्त्यान आदि विक्षेपों से पीड़ित होता है, तो प्रायः दुःख, दौर्मनस्य आदि उपविक्षेप भी पैदा हो जाते हैं अर्थात् दुःख आदि उपविक्षेप अवश्य ही पैदा हो जाते हों, ऐसा नही है। चूँकि दुःख आदि उपविक्षेप, व्याधि आदि विक्षेपों के अनुगामी हैं इसलिये जप की प्रक्रिया के द्वारा तो वे भी नष्ट हो ही जायेंगें। जप की प्रक्रिया के द्वारा उनके नष्ट होने में किञ्चितमात्र भी सन्देह नहीं है। लेकिन जिज्ञासा होती है कि क्या किसी अन्य

विधि के द्वारा भी दुःख, दौर्मनस्य आदि उपविक्षेपों से छुटकारा पाया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देते हुए इस सूत्र में कहा गया है कि—"उन दुःख, दौर्मनस्य आदि उपविक्षेपों के निवारणार्थ मन को एकविषय वाला बनाने का अभ्यास करना चाहिये अर्थात् किसी भी विधि के माध्यम से चित्त को एक विषय वाला बनाने का प्रयास करना चाहिये।"

विधियों की यहाँ चर्चा नहीं की गयी है, उसका निर्धारण हमें स्वयं करना है। योगदर्शन में स्थान-2 पर मन को एकाग्र करने की अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। उनमें से अपने अनुकूल किसी एक विधि का चयन करके लाभ उठाया जा सकता है। कुछ व्यक्ति यहाँ पर 'एकतत्त्वाभ्यास' शब्द का अर्थ 'ईश्वर का ध्यान करना' करते हैं, वह शब्दों के साथ फालतू की खैंचातानी है। साधकों को स्वयं को संस्कृत-भाषा की दृष्टि से भी योग्य बनाना चाहिये, ताकि शास्त्रों के अर्थों में की गयी इस प्रकार की निरर्थक शाब्दिक खैंचातानी को समझ सकें।

सूत्रभूमिका— आगे मुनिवर सविचार आदि समाधियों का वर्णन करेगें। सभी समाधियाँ, ध्यान के माध्यम से प्राप्त होती हैं तथा शान्त मन के द्वारा ही ध्यान की गहराईयों में उतरा जा सकता है इसलिये सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि किसी प्रकार मन को शान्त अवस्था वाला बनाया जाय। सामान्यतः मनुष्य के मन की दशा इस प्रकार की है कि वह या तो भूतकाल की स्मृतियों से आच्छादित है या भविष्यत् काल की आकांक्षाओं पर आरूढ है और वर्तमान चाहे सुखद है या दुखद, उसके प्रति संतोष व स्वीकृति के भाव से रहित है। यह मन की अशान्त अवस्था है। शान्त अवस्था इसकी बिल्कुल उल्टी है अर्थात् जब व्यक्ति अपने मन को भूत की स्मृतियों से व भविष्यत् की आकांक्षाओं से मुक्त-सा करके वर्तमान के साथ स्वीकृति के भाव से जी रहा हो, वह अवस्था मन की शान्त अवस्था कहलायेगी। तैसी दशा वाले मन के द्वारा ही ध्यान की शुरूआत की जा सकती है और ध्यान की गहराईयों में उतरा जा सकता है। मन की ईदृशी अवस्था के लिए ही मुनिवर ने आगामी सूत्रों में 'चित्तप्रसादनम्' शब्द का उपयोग किया है।

ऐसी अनेक विधियाँ हैं, जिनके माध्यम से हम भूत-भविष्यत् के इस दुष्चक्र को तोड़कर वर्तमान में आ सकते हैं। उन्हीं में से कुछ विधियों पर मुनिवर अगले सूत्रों में प्रकाश ड़ाल रहे हैं तथा अवशिष्ट विधियों को 'यथाभिमतध्यानाद्वा' के द्वारा स्वीकृति प्रदान करके छोड़ रहे हैं।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥33॥

शब्दार्थ— [मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्] मैत्री, करुणा, प्रसन्नता और उपेक्षा की,

हैं, फिर उसे आधा घण्टा चुप होकर बैठने के लिए कहो, तो आधा घण्टा भी चुप होकर बैठना उसके लिए असंभव हो जाता है। पतञ्जलि कह रहे हैं कि जो व्यक्ति इस विक्षिप्तावस्था से निकलना चाहता है तथा वह व्यक्ति जो साधना करना चाहता है अर्थात् ध्यान की गहराईयों में उतरकर चेतन आत्मा रूप स्वयं को तथा परमचेतन रूप परमात्मा को जानना चाहता है, उसे सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्री-भाव, दुःखी व्यक्तियों के प्रति करुणा-भाव, पुण्यवान् व्यक्तियों के प्रति प्रसन्नता का भाव तथा पापी व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा-भाव अर्थात् तटस्थ-भाव रूप बीज को अपने अन्तःकरण में आरोपित करके, उसे सतत विकसित करना चाहिये। ऐसा करने से ही उसका चित्त शान्त व निर्मल होगा।

सङ्गति– महर्षि अगले सूत्र में मन को शान्त व निर्मल बनाने की एक दूसरी विधि बता रहे हैं–

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥34॥

शब्दार्थ– [प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम्] प्रच्छर्दन अर्थात् श्वास के बाहर फेंकने और विधारण अर्थात् श्वास को रोकने की प्रक्रिया के द्वारा [वा] भी [प्राणस्य] श्वास के, चित्त शान्त व निर्मल बन जाता है।

सूत्रार्थ– श्वास के वार-2 बाहर फेंकने व रोकने की प्रक्रिया के द्वारा भी चित्त शान्त व निर्मल बन जाता है।

भावार्थ– यह इन सूत्रों की अनुभूमिका के रूप में लिखा जा चुका है कि आदमी भूत की कल्पनाओं और भविष्यत् की आकांक्षाओं के दुश्चक्र में फंसा हुआ वर्तमान को जी रहा है। 'वर्तमान को जी रहा है' ऐसा कहना भी उचित नही है, 'वर्तमान को ढ़ो रहा है' ऐसा कहना चाहिये। भूत की कल्पनाओं और भविष्यत् की आकांक्षाओं से मुक्त होकर वर्तमान को जीने में उत्सुक भी नही दीख पड़ता। ऐसा लगता है कि शायद आदमी भूत-भविष्यत से मुक्त होना भूल गया है। महर्षि पतञ्जलि इस सूत्र में हमें एक बहुत ही आसान विधि दे रहे हैं, जिसके माध्यम से हम भूत-भविष्यत् के दुश्चक्र को तोड़कर द्वन्द्वरहित वर्तमान में आ जाते हैं। उसके बाद थोड़े से प्रयासपूर्वक हम अपने व्यवहारिक जीवन को शान्तिपूर्वक जी सकते है और यदि हम चाहें तो ध्यान की गहराईयों में भी उतर सकते हैं।

विधि इस प्रकार है–किसी एकान्त स्थान पर वज्रासन या सुखासन में बैठ जाईये। उसके बाद एक प्रवाह-सा बनाते हुए सम्पूर्ण श्वास को बाहर निकाल दीजिये तथा उसके बाद एक प्रवाह-सा बनाते हुए श्वास को पूरी तरह से अन्दर भरकर, ठोड़ी को धीरे से कण्ठकूप में लगा लीजिये। अधखुली-सी आँखों से नासिका के अगले हिस्से को निर्भाव होकर देखते रहें। मन में

यदि विचार आते हैं, तो उनके प्रति उदासीन रहें, अपना समस्त ध्यान नासिका के अगले हिस्से पर ही रखें। जब श्वास को निकालने की इच्छा हो, तब ठोडी को कण्ठकूप से हटाते हुए श्वास को धीरे-धीरे निकाल दें। दो-चार सहज श्वास-प्रश्वास आने-जाने दें। नासिका के अगले हिस्से से दृष्टि को हटाना नही है। उसके बाद फिर पूर्व की भाँति एक प्रवाह-सा बनाते हुए श्वास को अन्दर भर लें, ठोड़ी को कण्ठकूप में लगा लें, अधखुली आँखों से नासिकाग्र को सतत देखते रहें, मन में उठने वाले विचारों व भावनाओं के प्रति उदासीन रहें। ध्यान रखें कि श्वास को अन्दर रोककर रखने में थोड़ी-सी भी जबरदस्ती नही करनी है तथा अन्त तक दृष्टि को नासिकाग्र से हटाना नही है, बीच में पलकों को झपका जा सकता है, उसकी मनाही नही है। यह सब 8-10 बार करें। इस प्रकार 8-10 बार करने से ही आप अपने मन को विचारों से मुक्त-सा पायेगें, स्वयं को वर्तमान में आया-सा अनुभव करेंगे। इसी स्थिति में बने रहने का प्रयास कीजिये। विचारमुक्तता का यह अनुभव बहुत कीमती है। यह आपको वर्तमान की निर्द्वन्द्वता से परिचित करायेगा। आपके अन्दर एक प्रकार की सहजता व सरलता को आविर्भूत करेगा, जिससे आपका जीवन रसपूर्ण होगा और यदि आप साधना करना चाहते हैं तो ध्यान की गहरी घाटियों में उतरना भी आपके लिए सरल हो जायेगा। अन्त में इस विधि के संबन्ध में एक बात और कहनी चाहूँगा कि किसी ऐसे अभ्यासी व्यक्ति से, जिसने इस विधि का अभ्यास किया हो, उससे इस विधि को सीख लें ताकि आप इस विधि से पूरा लाभ ले सकें।

सङ्गति– महर्षि अगले सूत्र में मन को शान्त व निर्मल बनाने की एक और विधि बता रहे हैं–

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥35॥

शब्दार्थ– [विषयवती] रूप-रस आदि विषय वाली [वा] भी [प्रवृत्तिः उत्पन्ना] उत्पन्न हुई प्रकृष्ट वृत्ति, जो कि [मनसः स्थितिनिबन्धनी] मन की स्थिरता को बनाये रखने वाली होती हो, चित्त को शान्त व निर्मल बना देती है।

सूत्रार्थ– रूप-रस आदि इन्द्रिय-विषयों को विषय बनाकर उत्पन्न हुई प्रकृष्ट वृत्ति भी, जो कि मन की स्थिरता को बनाये रखने वाली होती हो, चित्त को शान्त व निर्मल बना देती है।

भावार्थ– मन को स्थिरता प्रदान करने वाली एक अन्य विधि इस सूत्र में बताई गयी है। यह विधि अनुपम हैं। इस विधि जैसी सरल व विलक्षण विधि मेरी जानकारी में और नही है और शायद हो भी नही सकती क्योंकि इस विधि में इन्द्रियों के विषय को ही इन्द्रियविषयात्मक-विचार सरणी से मुक्ति का साधन बना लिया जाता है या यूँ कहिये कि काँटे को निकालने के लिए, काँटे को ही मुक्ति का साधन बना लिया जाता है, परन्तु ध्यान रखें कि काँटा निकल जाने के

सङ्गति— महर्षि अगले सूत्र में मन को शान्त व निर्मल बनाने की एक और विधि बता रहे हैं—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥35॥

शब्दार्थ— [विषयवती] रूप-रस आदि विषय वाली [वा] भी [प्रवृत्तिः उत्पन्ना] उत्पन्न हुई प्रकृष्ट वृत्ति, जो कि [मनसः स्थितिनिबन्धनी] मन की स्थिरता को बनाये रखने वाली हो, चित्त को शान्त व निर्मल बना देती है।

सूत्रार्थ— रूप-रस आदि इन्द्रिय-विषयों को विषय बनाकर उत्पन्न हुई प्रकृष्ट वृत्ति भी, जो कि मन की स्थिरता को बनाये रखने वाली होती हो, चित्त को शान्त व निर्मल बना देती है।

भावार्थ— मन को स्थिरता प्रदान करने वाली एक अन्य विधि इस सूत्र में बताई गयी है। यह विधि अनुपम हैं। इस विधि जैसी सरल व विलक्षण विधि मेरी जानकारी में और नही है और शायद हो भी नही सकती क्योंकि इस विधि में इन्द्रियों के विषयों को ही इन्द्रियविषयात्मक-विचारसरणी से मुक्ति का साधन बना लिया जाता है या यूँ कहिये कि काँटे को निकालने के लिए, काँटे को ही साधन बना लिया जाता है, परन्तु ध्यान रखें कि काँटा निकल जाने के बाद दोनों काँटों को फेंक दिया जाता है।

अब विधि के सम्बन्ध में विचार करते हैं। हमारी इन्द्रियों के पाँच विषय हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध व स्पर्श। इन पाँचों विषयों में से किसी भी एक को लेकर हम इस विधि का अभ्यास कर सकते हैं। अभ्यास करने के लिए आपको सर्वप्रथम उपयुक्त विषय का चयन करना होगा। उपयुक्त विषय की कसौटी यही है कि वह मनोवृत्ति को बाँधने वाला हो अर्थात् वह ऐसा हो कि जिसमें हम बह सकें, स्वयं को भूल सकें। साधकों के लाभार्थ नीचे यह विषय विस्तार से लिखा जाता है—

१. शब्द-विषय को माध्यम बनाकर अभ्यास— शब्दात्मक-विषय में शान्त प्रकृति की अव्यक्त ध्वनियाँ यथा— किसी नदी के बहते पानी की ध्वनि, किसी झरने के गिरते पानी की ध्वनि या हवा के चलने से पैदा हुई ध्वनि, किसी बगीचे में होता पक्षियों का मधुर कलरव आदि इस ध्यान के लिए सर्वोपयुक्त शब्द-विषय हैं, जबकि पों-पों, फट्-फट् आदि की ध्वनियाँ तथा देशी-विदेशी किसी भी प्रकार के संगीत से पैदा हुई ध्वनियाँ इस विधि में अभ्यास के लिए उपयुक्त नहीं हैं। प्रकृति में नैसर्गिक रूप से पैदा हुई ध्वनियाँ ही मेरी दृष्टि से सर्वोपयुक्त हैं क्योंकि वे हमारे मन को विचार करने के लिए प्रेरित नहीं करती।

अभ्यास इस प्रकार करें कि किसी शान्त एकान्त स्थान पर अपने अभ्यस्त आसन में बैठ जायें या लेट जायें। इसके बाद अपने शरीर में सिर से लेकर पैर तक के सभी अङ्गों पर

क्रमवार इस प्रकार की भावना करें कि मेरे ये-ये शरीराङ्ग शिथिल हो रहे हैं, स्पन्दन से रहित हो रहे हैं। इस प्रकार करने के बाद ऊपर बतायी गयी उपयुक्त शब्दात्मक-ध्वनियों में से जिसे भी हम ध्यान का माध्यम बनाना चाहते हैं, उस ध्वनि को तन्मय होकर सुनें। मान लीजिये हम बगीचे में हो रहे पक्षियों के कलरव को ध्यान का माध्यम बनाना चाहते हैं तो पक्षियों की चीं-चीं, कीं-कीं आदि की ध्वनि को सुनने में इतने तन्मय हो जाइये कि आप अन्य सब कुछ भूल जायें। यहाँ तक कि खुद को भी भूल जायें। तन्मयता उपलब्ध होने के कुछ देर बाद, आप पायेगें कि आपके अन्दर के विचार न जाने कहाँ खो गये हैं और अब उन ऊल-जलूल, असम्बद्ध विचारों के स्थान पर मन में एक प्रकार की तृप्तिदायक शान्ति छायी हुई है। मन पर एक प्रकार का स्वराज्य-सा स्थापित हो गया है। स्वयं को इसी स्थिति में बनाये रखने का प्रयास करें। जब यह स्थिति तिरोहित होने लगे, तो पुनः पूर्व की भाँति अभ्यास को दोहरायें। इतना ध्यान अवश्य रखें कि ध्यान के माध्यम को बदले नहीं, एक समय में एक ही प्रकार की ध्वनि को विषय बनाकर अभ्यास करें तथा अभ्यास के बीच में शरीर को हिलाये-डुलाये नहीं। कुछ दिन तक लगातार अभ्यास करने के बाद आप अनुभव करेंगें कि आपके व्यक्तित्व में एक प्रकार का गुणात्मक परिवर्तन घटित हो रहा है, जिससे आप अधिक मौलिक और सहज बनते जा रहें हैं तथा आपकी वासनायें तथा आपके क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि न जाने कहाँ तिरोहित होते जा रहें हैं।

२. रूप विषय को माध्यम बनाकर अभ्यास— रूपात्मक-विषय में कोई भी सुन्दर वृक्ष या मनोहारी पौधा या उस पर खिला हुआ कोई चित्ताकर्षक फूल, बहती नदी, अन्तहीन नीला आकाश या क्षितिज आदि मेरी दृष्टि में सर्वोपयुक्त विषय हैं क्योंकि ये विचारों को उत्तेजित नहीं करते। जबकि किसी भी स्त्री-पुरुष का चित्र, चाहे वह रानी लक्ष्मीबाई या भगतसिंह का ही क्यों न हो, इस ध्यान-विधि के लिए उपयुक्त नहीं माने जायेंगे क्योंकि ये सब हमारे मन को विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं।

अभ्यास करने के लिए किसी शान्त एकान्त स्थान पर अपने अभ्यस्त आसन में पूर्व की भाँति बैठ जायें या लेट जायें तथा शरीर के अङ्गों पर शिथिलीकरण की भावना करें। उसके बाद ऊपर बताये गये उपयुक्त रूप-विषयों में से, जिसे भी आप ध्यान का माध्यम बनाना चाहते हैं, उस रूप को तन्मय होकर देखें। मान लिया कि आप बहती नदी को ध्यान का माध्यम बनाना चाहते हैं तो उठती-गिरतीं व टेढी-मेढ़ी होकर बहने वाली लहरों तथा पानी में उठकर न जाने कहाँ खो जाने वाली लहरों व पानी में उठने वाली छोटी-बड़ी भँवरों को देखने में इतने तन्मय

से पैदा होने वाली सुगन्ध, अग्नि में घृत+गुग्गुल जलाने से पैदा होने वाली सुगन्ध आदि अभ्यास हेतु सर्वोपयुक्त हैं। मन को खिन्न करने वाली किसी भी प्रकार की गन्ध, केवल कण्डों या लकडियों के जलने से पैदा होने वाली गन्ध, किसी भी देशी-विदेशी सेन्ट की गन्ध आदि अभ्यास हेतु बिल्कुल भी उचित नही हैं। अभ्यास करने के लिए पूर्व की भाँति किसी शान्त एकान्त स्थान पर अपने अभ्यस्त आसन में बैठ जायें या लेट जायें तथा शरीर के अङ्गों पर शिथिलीकरण की भावना करें। उसके बाद ऊपर बतायी गयी उपयुक्त गन्धों में से, जिसे भी आप ध्यान का माध्यम बनाना चाहते हैं, उस गन्ध को ग्रहण करने में पूरी तरह से तन्मय हो जायें। सब कुछ भूल जायें। वह गन्ध हो व आप हों, बाकी सब संसार खो जाये तथा इससे भी आगे बढ़कर वहाँ तक पहुँचे कि आप भी खो से जायें। यही तन्मयता की अवस्था है। तन्मयता के क्षणों में आप एक प्रकार की अतुलनीय तृप्ति से परिचित होंगे, जिसे कि आपने इससे पहले कभी नही जाना होगा और वह तृप्ति आपके व्यक्तित्व में वे ही सब परिवर्तन लायेगी, जिनकी ऊपर चर्चा की जा चुकी है।

5. स्पर्श-विषय को माध्यम बनाकर अभ्यास— स्पर्शात्मक-विषय में कोई मुलायम बिस्तर, मुलायम आराम कुर्सी, मुलायम घास आदि अभ्यास हेतु सर्वोपयुक्त हैं। शरीर को उद्वेलित करने वाला कोई भी कठोर या खुरदुरा स्पर्श अभ्यास हेतु उचित नही हैं। अभ्यास करने के लिए किसी एकान्त-शान्त स्थान में किसी मुलायम बिस्तर, आरामदेह कुर्सी या मुलायम घास लेट जायें। शरीर के अङ्गों पर पूर्वोक्तवत् शिथिलीकरण की भावना करें। उसके बाद बिस्तर, कुर्सी या घास के मुलायम-कठोर, प्रीतिकर-अप्रीतिकर आदि स्पर्श को अनुभव करते हुए तन्मय हो जायें। यह तन्मयता आपको वहीं पहुँचा देगी, जिसकी कि ऊपर कई बार चर्चा की जा चुकी है।

सङ्गति— महर्षि अगले सूत्र में मन को शान्त व निर्मल बनाने की एक और विधि बता रहे हैं—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥36॥

शब्दार्थ— [विशोका] शोक से रहित [वा ज्योतिष्मती] प्रकाश से युक्त प्रवृत्ति भी चित्त को शान्त व निर्मल बना देती है।

सूत्रार्थ— शोक से रहित प्रकाश से युक्त प्रवृत्ति भी चित्त को शान्त व निर्मल बना देती है।

भावार्थ— कल्पनाशील स्वभाव के व्यक्तियों के लिए, चित्त को रूपान्तरित करने की यह एक अच्छी विधि है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है— किसी शान्त स्थान पर अपने अभ्यस्त आसन में बैठ जाईये। कमर व गर्दन को सीधा रखें। शरीर में कहीं खिंचाव-तनाव न रहे। थोड़ी देर

बिस्तर, मुलायम आराम कुर्सी, मुलायम घास आदि अभ्यास हेतु सर्वोपयुक्त हैं। शरीर को उद्वेलित करने वाला कोई भी कठोर या खुरदुरा स्पर्श अभ्यास हेतु उचित नहीं हैं। अभ्यास करने के लिए किसी एकान्त-शान्त स्थान में किसी मुलायम बिस्तर, आरामदेह कुर्सी या मुलायम घास पर लेट जायें। शरीर के अङ्गों पर पूर्वोक्तवत् शिथिलीकरण की भावना करें। उसके बाद बिस्तर, कुर्सी या घास के मुलायम-कठोर, प्रीतिकर-अप्रीतिकर आदि स्पर्श को अनुभव करते हुए तन्मय हो जायें। यह तन्मयता आपको वहीं पहुँचा देगी, जहाँ शास्त्रकार आपको ले जाना चाहते हैं।

सङ्गति— महर्षि अगले सूत्र में मन को शान्त व निर्मल बनाने की एक और विधि बता रहे हैं—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥36॥

शब्दार्थ— [विशोका वा ज्योतिष्मती] शोक से रहित प्रकाश से युक्त प्रवृत्ति भी चित्त को शान्त व निर्मल बना देती है।

सूत्रार्थ— शोक से रहित प्रकाश से युक्त प्रवृत्ति भी चित्त को शान्त व निर्मल बना देती है।

भावार्थ— कल्पनाशील स्वभाव के व्यक्तियों के लिए, चित्त को रूपान्तरित करने की यह एक अच्छी विधि है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है— किसी शान्त स्थान पर अपने अभ्यस्त आसन में बैठ जाईये। कमर व गर्दन को सीधा रखें। शरीर में कहीं खिंचाव-तनाव न रहे। थोड़ी देर आते-जाते श्वास-प्रश्वास पर इस प्रकार की भावना करें कि मेरी श्वास-प्रश्वास सूक्ष्म व मन्द हो रही है। ध्यान रखें कि केवल भावना करनी है, श्वास-प्रश्वास को मन्द करने के लिए कोई भी शारीरिक चेष्टा नहीं करनी है। थोड़ी देर बाद आप पायेंगे कि श्वास-प्रश्वास स्वतः ही मन्द व सूक्ष्म हो गयी है, आपको होने वाला अपने शरीर का अहसास भी तिरोहित-सा होने लगा है। इसके बाद आप आँखों को बन्द रखते हुए अपने भ्रूमध्य में बिना किसी खिंचाव-तनाव के देखना शुरु करें तथा साथ-2 मन में यह धारणा-सी भी बनाये रखें कि वहाँ आपको प्रकाश दिखाई पड़ेगा। ध्यान रहे कि प्रकाश के दिखाई देने मात्र की धारणा बनानी है, उसके साथ ऐसा-वैसा कुछ भी नही जोड़ना है। कुछ दिनों तक लगातार अभ्यास करने के बाद आपको भ्रूमध्य में प्रकाश दिखाई पड़ने लगेगा। प्रकाश दिखाई पड़ने लगने पर आप भावना-सी करें कि यह प्रकाश फैलता जा रहा है और आपके सम्पूर्ण सिर में फैल गया है। ऐसा हो जाने के बाद भावना करें कि यह सतत फैल रहा है और आपके सारे शरीर में फैल गया है तथा शरीर के बाहर भी फैल गया है। आप इस प्रकाश में डूबे हुए हैं। जब ऐसी स्थिति हो जाये, तो स्वयं को पूरी तरह से इस में डूबा दें। अन्य सब कुछ भूलकर इसमें डूब जायें। इसमें डूबकर आप

पायेगें कि आप एक असीम शान्ति के साम्राज्य मे पहुँच गये हैं, जो कि हर प्रकार के शोक से परे है। इस स्थिति को जितनी देर तक संभव हो, बनाये रखें। यह विशोका शान्ति आपके अन्तःकरण को आन्तरिक रूप से स्वतः ही रूपान्तरित करना आरम्भ कर देगी। बस, आपको तो इतना मात्र करना है कि इसका नियमित अभ्यास करते रहें। यह विधि थोड़ी कठिन-सी जरूर है, लेकिन वैसे बहुत प्रभावकारी है।

सङ्गति— महर्षि अगले सूत्र में मन को शान्त व निर्मल बनाने की एक और विधि बता रहे हैं—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥37॥

शब्दार्थ— [वीतरागविषयम्] रागरहित योगियों के चित्त का आलम्बन करने वाला [वा]भी [चित्तम्] चित्त, स्थिरता प्राप्त कर लेता है।

सूत्रार्थ— रागरहित योगियों के चित्त का आलम्बन करने वाला साधक का चित्त भी स्थिरता प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ— प्रारम्भिक स्तर के योगाभ्यासियों व मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को जानने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए यह सूत्र बहुत कीमती है क्योंकि इस सूत्र में हमें मन के स्वभाव को परिवर्तित करने का एक अचूक उपाय बताया गया है। योगाभ्यासी का लक्ष्य होता है—चित्त को रागरहित बना लेना। महर्षि पतञ्जलि ने बात उसी कोण से कही है, लेकिन यह अन्यत्र भी इतनी ही सशक्तता से प्रभावकारी होगी। हमारे आन्तरिक क्रिया-तन्त्र का यह स्वभाव है कि हम अपने मन को जिस प्रकार के भावों से आप्लावित करते हैं, हमारे अन्दर तदनुरूप परिवर्तन घटित होने लगते हैं। योगाभ्यासी का लक्ष्य होता है—चित्त को लगाव और अलगाव के विचारों से मुक्त कर लेना। लगाव-अलगाव के भावों से मुक्त अन्तःकरण की अवस्था को ही वीतरागता कहा जाता है। पतञ्जलि कह रहें हैं कि योग-साधक मन को शान्त व निर्मल बनाने हेतु वीतराग अवस्था वाले महापुरुषों के चित्त को भावना का विषय बनाये।

इसकी विधि इस प्रकार है—किसी शान्त स्थान पर अपने किसी अभ्यस्त आसन या सुखासन में बैठ जायें तत्पश्चात् आँखें करके किसी ऐसे महापुरुष का स्मरण करें, जिसे आप निःशङ्क रूप से वीतराग मानते हों। आपकी अपनी आस्था व विश्वास के अनुसार वे महर्षि दयानन्द हो सकतें हैं, महात्मा बुद्ध हो सकते हैं, वर्धमान महावीर हो सकतें हैं या कोई अन्य ऋषि-मुनि पतञ्जलि, कणाद आदि हो सकते हैं। मैं बिल्कुल स्पष्ट रूप से कहना चाहूँगा कि इस विधि में उस महापुरुष का वीतराग होना या न होना कोई महत्व नहीं रखता, बल्कि महत्व रखता है आपका यह निःशङ्क विश्वास कि वह वीतराग है। इसके बाद उसके अन्तःकरण के

विषय में इस प्रकार विचार कीजिये कि उनके मन में किसी व्यक्ति, विषय व वस्तु के प्रति न तो लगाव का भाव था और न ही अलगाव का भाव था, न किसी के प्रति प्रीति का भाव था और न ही अप्रीति का भाव था, न किसी के प्रति राग था और न ही किसी के प्रति द्वेष। वह द्वन्द्वातीत थे। साधना के माध्यम से उनके हृदय में वर्तमान समस्त राग-भाव व समस्त द्वेष-भाव, समस्त लगाव का भाव व समस्त अलगाव का भाव तिरोहित हो गया था, अब तो उनके हृदय में एक प्रकार की शान्तिदायक प्रशान्तता विराजमान थी। इस प्रकार के भावमय विचारों में पूरी तरह से डूब जायें। इसके बाद अपने मन, अपने अन्तःकरण के विषय में भावना करे कि मेरा मन व अन्तःकरण भी ऐसा ही हो रहा है। उसमें वर्तमान समस्त राग व द्वेष भाव तिरोहित हो रहा है। अब उसमें किसी के प्रति न तो लगाव का भाव है और न ही अलगाव का भाव। अब यहाँ पर असीम शान्ति छायी हुई है और मैं इस शान्ति में डूबा हुआ हूँ। इस प्रकार के भावनात्मक विचारों को अपने मन में उठायें। ऐसा करने से हमारे मन में एक प्रकार की शान्ति का आविर्भाव होगा, उस शान्ति में डूब जायें। कुछ देर बाद जब यह शान्ति तिरोहित-सी होने लगे, तो फिर पूर्व की भाँति चित्त को भावान्वित करे तथा आविर्भूत शान्ति में डूब जायें। इस प्रकार बार-2 करता जाये। ऐसा करते जाने से कुछ दिन बाद हम पायेंगे कि हम अन्दर से विचारों की दृष्टि से शान्त व विकारों की दृष्टि से निर्मल होते जा रहे हैं तथा हमारे अन्दर का काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार स्वतः ही तिरोहित-सा होता जा रहा है।

सङ्गति— महर्षि अगले सूत्र में मन को शान्त व निर्मल बनाने की एक और विधि बता रहे हैं—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥38॥

शब्दार्थ— [स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम् वा] स्वप्न का आलम्बन एवं निद्रा में ज्ञान का आलम्बन अर्थात् स्वयं के होने के बोध का आलम्बन भी चित्त को शान्त व निर्मल बना देता है।

सूत्रार्थ— स्वप्न का आलम्बन एवं निद्रा में बोध का आलम्बन भी चित्त को शान्त व निर्मल बना देता हैं।

भावार्थ— स्वप्न का आलम्बन व निद्रा में स्वयं के साक्षित्व-बोध का आलम्बन, ये दोनों ही मन की शान्ति व निर्मलता की प्राप्ति के थोड़े जटिल-से, लेकिन अचूक उपाय हैं। वस्तुतः कुछ आध्यात्मिक अनुभव इस प्रकार के हैं कि जिनका क्षणिक स्पर्श भी व्यक्ति के अन्तःकरण में क्रान्तिकारी रूपान्तरण घटित कर देता है। शायद यह कहना सत्य के अधिक निकट होगा कि उन आध्यात्मिक अनुभवों का क्षणिक स्पर्श ही व्यक्ति को आधा योगी बना देता है। ये आध्यात्मिक अनुभव आकस्मिक रूप से स्वतः भी घटित हो सकते हैं, साधना की

ध्यान-विधियों के माध्यम से योजनाबद्ध तरीके से भी घटित किये जा सकते हैं व गुरु के द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्ति के माध्यम से भी शिष्य में घटित किये जा सकते हैं। गुरु के द्वारा घटित किये गये, इस प्रकार के आध्यात्मिक-अनुभवों को ही आध्यात्मिक जगत् में गुरु-प्रसाद या गुरु-कृपा कहा जाता है। प्रकृत सूत्र में इस प्रकार की ही दो विलक्षण ध्यान विधियाँ बतायी गयी हैं, जिनके माध्यम से हमें क्रमशः स्वयं के कर्तृत्व का व स्वयं के साक्षित्व का बोध होता है। स्वयं के कर्तृत्व व साक्षित्व का यह बोध हमारे अन्तःकरण में विलक्षण परिवर्तन घटित करता है। इन बोधों से गुजरने के बाद हमारे मन की वासनाएँ, हमारे मन की अस्त-व्यस्तता, हमारा क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि न जाने कहाँ तिरोहित होने लगते हैं। अब विधियों की प्रक्रिया पर थोड़ा विस्तार से प्रकाश डालते हैं—

पहली विधि है—स्वप्न के आलम्बन के माध्यम से चित्त को शान्त व निर्मल बनाना। इस विधि का प्रयोग रात्रि में सोते हुए किया जाता है। इसमें हम अपने शयनकाल में अपना संकल्पित स्वप्न पैदा करते हैं। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि आप पूरा दिन अपने मन में कोई वस्तु यथा कोई पुष्प, कोई पौधा या कोई पुस्तक इस संकल्प के साथ लाते रहिये कि इसे आज रात में मुझे स्वप्न में देखना है। रात में सोते हुए भी इसी प्रकार के संकल्पों को दोहराते हुए सो जाईये। कुछ दिन प्रयास करने के बाद एक दिन ऐसा होगा कि आप अपनी संकल्पित चीज स्वप्न में देखेंगे। उस संकल्पित चीज का स्वप्न देखते हुए, स्वप्न में ही आपको यह बात भी स्मरण आयेगी कि यह तो स्वप्न है। बहुत संभव है कि इस भाव के आते ही आपकी नींद टूट जाये। एक संकल्पित वस्तु को स्वप्न में देखने पर सफलता मिलने पर इसे अन्य वस्तुओं को लेकर अभ्यास करें। इच्छानुकूल स्वप्नों को उत्पन्न कर सकने की यह क्षमता आपको यह अहसास प्रदान करेगी कि दिन में मन में उठ रहे विचारों व रात्रि में सोते हुए दीख रहे स्वप्नों के कर्ता हम ही हैं। यह अहसास बहुत कीमती है। यह अहसास जैसे-2 दृढ़ीभूत होता जाता है, तैसे-2 हमारा स्वयं के मन पर आधिपत्य बढ़ता जाता है या यह कह सकते हैं कि हम स्वयं के मन के मालिक होते जाते हैं और जैसे-जैसे हम अपने मन के मालिक होते जाते हैं, तैसे-तैसे हमारे मन की अशान्ति व अपवित्रता न जाने कहाँ गायब होती चली जाती है।

अब दूसरी विधि पर आते हैं। दूसरी विधि है—निद्रा में स्वबोध के आलम्बन के माध्यम से चित्त को शान्त व निर्मल बनाना। इस विधि का प्रयोग भी रात्रि में सोते में ही किया जाता है। इस विधि की प्रक्रिया को समझने से पहले हम अपने मनों की दशा को समझ ले। वस्तुस्थिति कुछ इस प्रकार की है कि हमारे पास विचारों के नाम पर एक प्रकार की अराजक व उच्छृंखल भीड़-सी है, जिसने मनःस्तर पर एक प्रकार का कोहराम-सा

मचाया हुआ है, जिसमें आत्मा का अधिपतित्व व साक्षित्व तिरोहित-सा हो गया है। कुल मिलाकर हमारा मन आंशिक विक्षिप्त-सी अवस्था में है, जिसके विक्षिप्त कोलाहल में हम जो कि चेतन व इन्द्रियों के अधिपति आत्मा है, अपने होने तक को भूल-सा गये हैं। ध्यान की इस विधि में हम स्वयं के होने के विस्मृत-से हुए अहसास को जागृत करने का अभ्यास करते हैं तथा यहाँ तक कि निद्रा के काल में भी उसे बनाये रखने का प्रयास व अभ्यास करते हैं। इस प्रकार ध्यान की इस पद्यति को आत्म-स्मृति को आविर्भूत करने वाली पद्धति भी कह सकते हैं। इस विधि की प्रक्रिया इस प्रकार है कि हम अपने जागरण के काल में अपने होने के अहसास को सतत बनाये रखें। यह तब ही हो पायेगा, जब आप जो भी कर रहें हैं, उसे पूरी तन्मयता से करें तथा स्वयं के होने को भी जानते रहें तथा रात्रि में जब सोयें, तब शरीर को पूरी तरह से ढीला छोड़ दे तथा शरीर को नींद में जाता हुआ देखें। इस प्रकार कुछ दिन तक लगातार अभ्यास करने के बाद आप पायेंगे कि आपके अन्दर स्वयं के मन व शरीर के क्रिया-कलापों के प्रति एक प्रकार की साक्षिता पैदा हो रही है, जिसकी छत्र-छाया में आपका आपके मन व शरीर के साथ पार्थक्य बढ़ रहा है। यहाँ तक कि आप अपने निद्राकाल में भी स्वयं को शरीर से अलग महसूस कर रहे हैं तथा साथ-2 शरीर को भी सोता हुआ महसूस कर रहे हैं। इसी अवस्था के लिए सूत्र में "निद्राज्ञानालम्बनम्" शब्द प्रयोग किया है। जैसे-2 हमारी यह साक्षिता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे हमारे मन की अस्त-व्यस्तता, उसकी विक्षिप्ता व उसमें होने वाला कोलाहल तिरोहित होता जाता है। हमारे मन में एक प्रकार की शान्ति और सुव्यवस्था और निर्मलता का आविर्भाव होता है, जिससे स्वयं को आप्लावित करते हुए, हम स्वयं को तृप्त-सा कह उठते हैं।

सङ्गति— महर्षि अगले सूत्र में मन को शान्त व निर्मल बनाने की अवशिष्ट सभी विधियों के लिए कसौटी प्रदान करते हुए उपसंहाररूप में कह रहे हैं—

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥39॥

शब्दार्थ— [यथाभिमतध्यानात् वा] किसी अभिमान्य सिद्धान्त के अनुसार ध्यान करने से भी चित्त शान्त व निर्मल हो जाता है।

सूत्रार्थ— अन्य किसी अभिमान्य सिद्धान्त के अनुसार किसी अन्य विधि से ध्यान करने से भी चित्त शान्त व निर्मल हो जाता है।

भावार्थ— चित्त को शान्त व निर्मल बनाने की अनेकों ध्यान-विधियाँ हैं। सभी का वर्णन करना यहाँ संभव नही है और न ही प्रासंगिक है इसलिये महर्षि ने अवशिष्ट विधियों के लिए

उपसंहाररूप में कसौटी देते हुए प्रकरण को समाप्त कर दिया है। सूत्र में आया "अभिमत" शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ है—अभिमान्य सिद्धान्त। अभिप्राय यह है कि साधकों को स्वयं के चित्त को शान्त व निर्मल करने के लिए अभिमान्य सिद्धान्त सम्मत ध्यान-पद्धतियों से ही अभ्यास करना चाहिये। ऐसे ही किसी भी तरीके से ध्यान नहीं करने लग जाना चाहिये क्योंकि ध्यान एक ऐसी क्रिया है कि यदि आप इसे ठीक विधि से करते हैं तो यह आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को इतने चरम-स्तर तक विकसित कर सकती है कि उस दशा में आपको मनुष्य न कहकर महापुरुष, ज्ञानी, योगी, बुद्धपुरुष या दिव्य पुरुष आदि कहा जाय तो अधिक उचित होगा। इसके दूसरी ओर यदि आप ध्यान की क्रिया को गलत विधि से करते हैं, तो यह आपको अत्यधिक अशान्त, कामी, क्रोधी, चिड़चिड़ा व विक्षिप्त-सा बना देगी। मैं ऐसे बहुत सारे व्यक्तियों को जानता हूँ, जिन्होनें गलत विधि से ध्यान करके स्वयं के म.. व व्यक्तित्व को उलझ-पुलझ व विक्षिप्त-सा बना लिया है व कुछ तो विल्कुल ही पागल हो गये हैं। इन सब कारणों से मेरा सभी साधकों से निवेदन है कि सर्वथा उचित तो यही है कि किसी ध्यानाभ्यासी से ध्यान की विधि को सीखकर तथा उसके निर्देशन में ही ध्यान क़ा अभ्यास करें और यदि यह सम्भव न हो तो किसी अभिमान्य सिद्धान्त सम्मत ध्यान-पद्यति से ही ध्यान करें। मैं यहाँ एक आसान ध्यान पद्यति दे रहा हूँ, जो कि सर्वथा अनुभूत है। साधना में उत्सुकता रखने वाले साधक इसका निर्भय होकर अभ्यास कर सकते हैं—

विधि इस प्रकार है—किसी शान्त स्थान पर यथारुचि शरीर स्थिति में बैठ जायें। कमर को सीधी आदि रखने का कोई पूर्वाग्रह न रखें। यदि आप जमीन पर बैठने के अभ्यासी नहीं हैं, तो कुर्सी पर पैरों को नीचे लटकायी हुई अवस्था में भी बैठ सकते हैं। इसके बाद अपने सामने एक बड़ा-सा शीशा रख ल़ीजिये। शीशा इतना बड़ा हो कि यदि आप नीचे बैठे हैं, तो आप स्वयं के पूरे शरीर को शीशे में स्पष्ट रूप से देख सकें। यदि आप कुर्सी पर बैठे हुए हैं, तो सामने मेज रखकर उस पर शीशा रखें। इसके बाद स्वयं को एकाग्र करते हुए शीशे में पड़ रहे स्वयं के सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब को ध्यान से देखें, बिना किसी विचार के केवल देखें। उसके बाद धीरे-2 स्वयं के चेहरे पर केन्द्रित हो जायें। उसी को देखने मात्र में पूरी तरह से तन्मय हो जाये। बीच में जब पलक झपकने की इच्छा हो, तो पलकों को झपक लें। इस प्रकार निर्भाव होकर तन्मयता से स्वयं को देखते रहने से कुछ ही देर बाद आप पायेंगे कि मन में चलता विचारों का प्रवाह मन्द पड़ता जा रहा है। ध्यान रखने की बात है कि विचारों के प्रवाह को मन्द या समाप्त करने के लिए सीधा विचारों के साथ कुछ भी नही करना है, यहाँ तक कि उनकी ओर

थोड़ा भी ध्यान नहीं देना है। विचारों व विचारों के प्रवाह के प्रति बिल्कुल ही उदासीन रहना है। अपनी सम्पूर्ण एकाग्रता को पूरी तरह से स्वयं को देखने की क्रिया के प्रति उड़ेल देना है। इस प्रकार कुछ दिन तक सतत अभ्यास करते हुए एक दिन आप अचानक पायेंगे कि आपका मन-मस्तिष्क विचारों से पूरी तरह से खाली है। विचारों की अराजक भीड़ के स्थान पर अब वहाँ एक प्रकार की तृप्तिदायक शान्ति छायी हुई है। जब मन-मस्तिष्क में इस प्रकार की शान्ति छाने लगे, तब स्वयं के प्रतिबिम्ब के प्रति उदासीन होकर स्वयं को इस शान्ति में डूब जाने दें। अधिक से अधिक देर तक इसी निर्विचार शान्ति में बने रहने का प्रयास करें। निर्विचारता से आविर्भूत हुई यह चित्त-शान्ति ही आपके अन्तःकरण को शान्त व निर्मल बनाती हुई, आपके व्यक्तित्व को चरम-स्तर तक रूपान्तरित करेगी।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥40॥

शब्दार्थ– [परमाणुपरममहत्त्वान्तः] परमाणु और परम महत् पर्यन्त [अस्य] इसका अर्थात् पूर्वोक्त विधियों के माध्यम से स्थिर हुए चित्त का [वशीकारः] वशीकार हो जाता है।

सूत्रार्थ– पूर्वोक्त विधियों के माध्यम से स्थिर किये हुए चित्त का परमाणु से लेकर परम महत् पर्यन्त वशीकरण सम्भव हो जाता है।

भावार्थ– पूर्वोक्त ध्यानाभ्यासों के द्वारा चित्त इतना सक्षम व सामर्थ्यशाली हो जाता है कि साधक उसे परम सूक्ष्म परमाणु से लेकर परम महत् किसी भी सत्तावान् वस्तु पर अभिकेन्द्रित कर सकता है। उपरोक्त सूत्रों में ध्यान-विधियों की प्रक्रिया को लिखते हुए, ऐसा मैनें सभी जगह स्पष्ट किया है कि एक स्थिति ऐसी आती है कि मस्तिष्क की समस्त अस्त-व्यस्तता, विचारों की समस्त अराजकता खो जाती है और हम स्वयं को एक प्रकार की विक्षिप्तता से मुक्त हुआ-सा महसूस करते हैं। उस समय हम स्वयं को मन-मस्तिष्क व समस्त ज्ञानेन्द्रियों का नियन्ता महसूस करते हैं। इस सूत्र में इस अवस्था तक पहुँच चुके चित्त की सामर्थ्य बतायी गयी है कि उस समय चित्त इतना सामर्थ्यवान् होता है कि सर्वसूक्ष्म पदार्थ से लेकर सर्वस्थूल पदार्थ तक किसी भी पदार्थ में उसे एकाग्र किया जा सकता है तथा तत्सम्बन्धी ज्ञानविशेष को जाना जा सकता है। वस्तुतः यही वह बिन्दु है, जहाँ से यदि साधक पदार्थ को जानने की इच्छा से बाह्य यात्रा पर निकल पड़ता है, तो कालान्तर में उसे हम वैज्ञानिक के रूप मे जानते हैं और यदि स्वयं को जानने की इच्छा से अन्तर्यात्रा पर निकल पड़ता है, तो कालान्तर में उसे हम योगी, आत्मज्ञानी आदि के रूप में जानते हैं।

जिज्ञासा— योगशास्त्रों में बहुधा व्यवह्रियमाण "समापत्ति" का क्या स्वरूप है ?

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥41॥

शब्दार्थ— [क्षीणवृत्तेः] जिसकी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं ऐसे [अभिजातस्य इव मणेः] स्वच्छ-निर्मल-निर्दोष मणि सदृश चित्त का, [ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु] ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यों में [तत्स्थतदञ्जनता] स्थिर होकर उसी रूप-आकार वाला प्रतीत होना [समापत्तिः] समापत्ति कहलाती है।

सूत्रार्थ— जिसकी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं ऐसे स्वच्छ-निर्मल-निर्दोष मणि सदृश चित्त का ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यों के स्वरूपों में स्थिर होकर उसी रूप-आकार वाला प्रतीत होना 'समापत्ति' कहलाती है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥42॥

शब्दार्थ— [तत्र] उन पूर्वसूत्रलक्षणित समापत्तियों में [शब्दार्थज्ञानविकल्पैः] शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से [सङ्कीर्णा] मिश्रित समापत्ति [सवित्तर्का समापत्तिः] सवित्तर्का समापत्ति कहलाती है।

सूत्रार्थ— उन पूर्वसूत्रलक्षणित समापत्तियों में शब्द, अर्थ और ज्ञान के भेदों से मिश्रित समापत्ति 'सवित्तर्का समापत्ति' कहलाती है।

भावार्थ— समापत्ति और सम्प्रज्ञात समाधि को पर्यायवाची समझना चाहिये। ध्येयविषयक प्रगाढ़तम एकाग्रावस्था को 'समाधि' कहते हैं। उस अवस्था में हमें ध्येयवस्तुस्वरूपविषयक विशेष बोध होता है। 'सम्प्रज्ञात' शब्द से भी यही ध्वनित होता है। सम्प्रज्ञात शब्द का अर्थ है—'ध्येयविषयः सम्यक् प्रकारेण ज्ञायते यत्र स सम्प्रज्ञातः' अर्थात् समाधि की जिस अवस्था में ध्येय के स्वरूप को सम्यक्तया जाना जाय, वह अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। सुबोधता हेतु सम्प्रज्ञात समाधि को भी निम्न-उच्च अवस्थाओं के आधार पर चार भागों में विभाजित किया गया है। इस सूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि की निम्नतम अवस्था का वर्णन किया गया है और उसे 'सवितर्का समापत्ति' नाम दिया गया है। इस अवस्था में ध्येयपदार्थ तदर्थ प्रयुज्यमान शब्द और तद्विषयक ज्ञान से मिश्रित भासता है। यह हम सभी जानते हैं कि शब्द, अर्थ तथा ज्ञान ये तीनों पृथक्-2 सत्ता वाले हैं।

1. शब्द— जो जिह्वा के द्वारा उच्चारित होता है, कानों के द्वारा ग्रहण किया जाता है तथा ध्वनिमय होता है 'शब्द' कहलाता है। यथा-गाय शब्द।

2. **अर्थ—** वह पदार्थविशेष, जिसका बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है, 'अर्थ' कहलाता है, यथा–चार पैर, दो सींग आदि वाला वह पशु जिसे गोशाला में बाँधा जाता है तथा जिसके लिए 'गाय' शब्द का प्रयोग किया जाता है।
3. **ज्ञान—** शब्द को सुनने के बाद मन में जागृत होने वाला अर्थस्वरूपविषयक आभास 'ज्ञान' कहलाता है, यथा–गाय शब्द को सुनने के बाद मन में जागृत होने वाला तदर्थस्वरूपविषयक आभास।

ये तीनों सर्वथा पृथक्-पृथक् सत्ता वाले हैं, लेकिन निरन्तर अभ्यास के कारण मिले-जुले प्रतीत होते हैं। सवितर्का समापत्ति की अवस्था में भी तीनों की मिली-जुली प्रतीति होती है। उदाहरण के लिए यदि 'गाय' को विषयक बनाकर चित्त को एकाग्र करने पर जब तक चतुष्पदी पशु की प्रतीति 'गाय' शब्द तथा तद्‌विषयकज्ञान से मिश्रित अवस्था में हो, 'सवितर्का समापत्ति' कहलायेगी। वस्तुतः यह समाधि की सबसे निम्नतम अवस्था है, लेकिन शिखर पर भी सीढ़ी-दर-सीढ़ी ही पहुँचा जाता है इसलिये यहाँ तक पहुँच जाना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥43॥

शब्दार्थ— [स्मृतिपरिशुद्धौ] स्मृति के परिशुद्ध हो जाने पर [स्वरूपशून्या इव] अपने ग्रहणरूप से शून्य हुई-सी [अर्थमात्रनिर्भासा] केवल अर्थमात्र का भान कराने वाली (चित्त की वृत्त्यात्मक स्थिति) [निर्वितर्का] निर्वितर्का समापत्ति कहलाती है।

सूत्रार्थ— शब्द-संकेत आदि जन्य स्मृति के पूरी तरह से निवृत्त हो जाने पर अपने ग्रहणरूप से शून्य हुई-सी केवल अर्थमात्र का बोध कराने वाली चित्त की वृत्त्यात्मक स्थिति 'निर्वितर्का समापत्ति' कहलाती है।

भावार्थ— हम सभी को होने वाला किसी भी पदार्थ का बोध, पदार्थ विषयक शब्द, पदार्थ के विषय में सुने हुए तथ्यों तथा अन्य बहुत सारे आनुमानिक तथ्यों से सम्मिश्रित रहता है। समापत्ति की पूर्वावस्थाओं में भी ऐसा ही होता रहता है। इस सूत्र में बताया जा रहा है कि समापत्ति की जिस अवस्था में अर्थबोध के साथ संपृक्त यह शब्द आदि जन्य स्मृति पूरी तरह निवृत हो जाय और केवल अर्थमात्र का बोध होने लगे, वह अवस्था योगदर्शन की भाषा में 'निर्वितर्का समापत्ति' कहलाती है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥44॥

शब्दार्थ— [एतया एव] इससे ही [सविचारा] सविचारा समापत्ति [निर्विचारा] निर्विचारा

समापत्ति [च] और [सूक्ष्मविषया] सूक्ष्म विषय (ध्येय) वाली [व्याख्याता] व्याख्यान की हुई समझ लेनी चाहिए।

सूत्रार्थ— इस पूर्वोक्त विवरण के अनुसार ही सूक्ष्म ध्येयविषय वाली सविचारा और निर्विचारा समापत्तियाँ भी व्याख्यान की हुई समझ लेनी चाहिए।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥45॥

शब्दार्थ— [सूक्ष्मविषयत्वम् च] और विषयों का सूक्ष्मत्व [अलिङ्गपर्यवसानम्] अलिङ्ग प्रकृति पर्यन्त है।

सूत्रार्थ— विषयों का सूक्ष्मत्व अलिङ्ग प्रकृति अर्थात् प्रकृति की अव्यक्तावस्था पर्यन्त है।

ता एव सबीजः समाधिः ॥46॥

शब्दार्थ— [ताः एव] वे ही [सबीजः समाधिः] सबीज समाधि कही जाती हैं।

सूत्रार्थ— वे पूर्वसूत्रों में वर्णित समापत्तियाँ ही 'सबीज समाधि' कही जाती हैं।

भावार्थ— पूर्वसूत्रों में सवितर्क, निर्वतर्क, सविचार व निर्विचार समापत्तियों का वर्णन किया गया है। इनमें सवितर्क व निर्वितर्क समापत्तियाँ रूप, रस आदि स्थूलभूत विषय वाली तथा सविचार व निर्विचार समापत्तियाँ रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र आदि सूक्ष्मभूत विषय वाली होती हैं। इस प्रकार ये चारों प्रकार की समापत्तियाँ सालम्बन या साश्रय या सबीज होती हैं। यहाँ 'बीज' शब्द आलम्बन या आश्रय अर्थ में प्रयोग किया है। ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य स्वरूपा दृश्यरूपा, अनात्म प्रकृति को भी शास्त्रों में 'बीज' कहा गया है। इस परिप्रेक्ष्य में सबीज का अर्थ होगा—'वे समापत्तियाँ जो ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य स्वरूपा प्रकृति को आलम्बन बनाकर घटित होती हैं, सबीज समाधियाँ कहलाती हैं।' यहाँ पर प्रयोग किया गया यह 'सबीज-समाधि' शब्दसमुदाय अर्थान्वयी या अर्थगर्भित है।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥47॥

शब्दार्थ— [निर्विचारवैशारद्ये] निर्विचार-समापत्ति में वैशारद्य-अवस्था उत्पन्न हो जाने पर [अध्यात्मप्रसादः] अध्यात्म-प्रसाद प्राप्त होता है।

सूत्रार्थ— निर्विचार-समापत्ति में वैशारद्य-अवस्था उत्पन्न हो जाने पर, योगी को अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है।

भावार्थ— ऊपर वर्णन की गयी सवितर्क आदि समापत्तियों में निर्विचार समापत्ति सबसे

उच्चतम अवस्था है। इस निर्विचार समापत्ति की भी निम्न, उच्च व उच्चतम अवस्थाएँ हैं। अध्यात्म-प्रसाद एक प्रकार की बौद्ध उपलब्धि है, जो कि निर्विचार समापत्ति की उच्चतम अवस्था में प्राप्त होती है। सत्त्वगुण का परमस्वच्छ व अति स्थिर प्रवाह 'वैशारद्य' कहा जाता है। यह निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में घटित होता है। निर्विचार-समापत्ति में इस वैशारद्य-अवस्था उत्पन्न हो जाने पर, योगी को मूल प्रकृति पर्यन्त समस्त पदार्थों का युगपत् व यथार्थ-बोध कराने वाला एक प्रकार का प्रज्ञा-आलोक प्राप्त होता है। इस प्रज्ञा-आलोक को ही यहाँ 'अध्यात्म-प्रसाद' कहा गया है। शाब्दिक दृष्टि से 'अध्यात्म-प्रसाद' शब्द का अर्थ होगा— 'बुद्धि की परम निर्मल अवस्था'। प्रज्ञा-आलोक के लिए 'प्रज्ञा-प्रासाद' शब्द भी शास्त्रों में देखने को मिलता है। शाब्दिक दृष्टि से 'प्रज्ञा-प्रासाद' शब्द का अर्थ होगा—'बुद्धि का उच्चतम शिखर'।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥48॥

शब्दार्थ— [ऋतम्भरा] 'ऋतम्भरा' इस अर्थगर्भित नाम वाली [तत्र] उस पूर्वसूत्रोक्त दशा में [प्रज्ञा] बुद्धि होती है।

सूत्रार्थ— उस पूर्वसूत्रोक्त दशा में 'ऋतम्भरा' नाम वाली बुद्धि होती है।

भावार्थ— पूर्वसूत्र के भावार्थ में स्पष्ट किया जा चुका है कि निर्विचार भाव के सर्वथा परिशुद्ध हो जाने पर साधक को बुद्धि का उच्चतम शिखर प्राप्त हो जाता है। बुद्धि के उसी उच्चतम शिखर को इस सूत्र में एक बहुत ही सुन्दर अन्वर्थ नाम दिया जा रहा है—'ऋतम्भरा प्रज्ञा'। 'ऋत' कहते है यथार्थ को और 'भर' का अर्थ है 'धारण करने वाली'। इस प्रकार 'ऋतम्भरा' का अर्थ हुआ—'यथार्थ को धारण करने वाली' या 'सत्य का बोध कराने वाली'।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥49॥

शब्दार्थ— [श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्] शब्दप्रमाणजनित प्रज्ञा तथा अनुमानप्रमाणजनित प्रज्ञा से [अन्यविषया] भिन्न प्रकार की होती है ऋतम्भरा प्रज्ञा [विशेषार्थत्वात्] विशेष अर्थ का बोध कराने वाली होने से।

सूत्रार्थ— शब्दप्रमाणजनित प्रज्ञा तथा अनुमानप्रमाणजनित प्रज्ञा से भिन्न प्रकार की होती है ऋतम्भरा प्रज्ञा, विशेष अर्थ का बोध कराने वाली होने से।

भावार्थ— हमें तीन माध्यमों से पदार्थों के स्वरूप का बोध होता है—1. शास्त्र, गुरु आदि के शब्दों के माध्यम से, 2. अनुमान के माध्यम से, 3. प्रत्यक्ष के माध्यम से। शास्त्र आदि के शब्दों के माध्यम से तथा अनुमान के माध्यम से हमें पदार्थ के सामान्य स्वरूप का धुंधला-सा ही बोध

होता है। पदार्थ के स्वरूप का वास्तविक व पूर्ण बोध तो हमें प्रत्यक्ष के माध्यम से ही होता है। 'ऋतम्भरा.प्रज्ञा' के द्वारा पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है। इसी बात को प्रकृत सूत्र में स्पष्ट करते हुए कहा जा रहा है कि 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' शब्दप्रमाणजनित प्रज्ञा तथा अनुमानप्रमाणजनित प्रज्ञा से भिन्न प्रकार की होती है क्योंकि उसके द्वारा पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥50॥

शब्दार्थ— [तज्जः संस्कारः] उससे अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न हुआ संस्कार [अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी] अन्य संस्कारों का रोकने वाला होता है।

सूत्रार्थ— उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न हुआ संस्कार अन्य संस्कारों का रोकने वाला होता है।

भावार्थ— जो-जो भी हम अनुभव करते हैं, उस-उस अनुभव की हमारे चित्त पर छाप पड़ती हैं। ये छाप ही शास्त्रीय भाषा में 'संस्कार' कही जाती हैं। यह भी ग्रन्थ के आरम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है कि क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध, ये चित्त की पाँच अवस्थाएँ हैं। यह भी सभी साधकों के लिए जानने योग्य है कि इनमें उत्तरोत्तर अवस्था श्रेष्ठ है तथा सभी अवस्थाएँ परस्पर विरोधी हैं, परन्तु प्रत्येक उत्तरावस्था पूर्वावस्था से सांस्कारिक दृष्टि से प्रबल है। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि चित्त की एकाग्रावस्था की तुलना में क्षिप्त, मूढ तथा विक्षिप्त अवस्थाएँ व्युत्थानावस्था कहलाती हैं तथा चित्त की निरुद्धावस्था की तुलना में एकाग्रावस्था व्युत्थानावस्था कही जाती है। अपने सामान्य जीवन में हम क्षिप्त, मूढ़ व विक्षिप्त चित्तावस्थाओं में ही जीते रहते हैं। इनके संस्कारों से ही हमारा चित्त आप्लावित रहता है। इन व्युत्थित अवस्थाओं के संस्कारों की बहुलता की वजह से ही हमारा चित्त निरन्तर व्युत्थित अवस्था में रहता है। निर्विचार समापत्ति चित्त की एकाग्रभूमि में घटित होती है। निर्विचार समापत्ति में ऋतम्भरा प्रज्ञा का आविर्भवन चित्त में एकाग्रावस्था की पराकाष्ठा का द्योतक है। चित्त के इस अवस्था में पहुँचने पर ऋतम्भरा प्रज्ञा की समुपस्थिति में हम जैसा अनुभव करते हैं, हमारी उन अनुभूतियों के संस्कार हमारे चित्त पर पड़ते हैं, ये संस्कार क्षिप्त आदि व्युत्थित अवस्थाओं के संस्कारों के प्रतिरोधक होते हैं अर्थात् चित्त को व्युत्थित होने से विमुख करते हैं तथा व्युत्थान के संस्कारों की प्रबलता को कम करते हैं।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥51॥

शब्दार्थ— [तस्य अपि] उस ऋतम्भराप्रज्ञाजनित संस्कार के भी [निरोधे] रोक दिये जाने पर

[सर्वनिरोधात्] सब चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाने से [निर्बीजः समाधिः] निर्बीज समाधि घटित होती है।

सूत्रार्थ— उस ऋतम्भराप्रज्ञाजनित संस्कार के भी रोक दिये जाने पर, सब चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाने से निर्बीज समाधि घटित होती है।

भावार्थ— ऋतम्भरा प्रज्ञा सम्प्रज्ञात समाधि की चरम अवस्था में घटित होती है। जब ऋतम्भराप्रज्ञाजनित संस्कारों को भी रोक दिया जाता है, तो सब चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाने से निर्बीज समाधि घटित होती है। निर्बीज समाधि को ही असम्प्रज्ञात समाधि भी कहा जाता है।

साधनपाद

महर्षि पतञ्जलि ने समाहित चित्त वाले योग के उत्तम अधिकारियों के लिए प्रथम पाद में समाधि-सिद्धि के उपाय अभ्यास और वैराग्य का वर्णन किया है। लेकिन समाहित चित्त वाले व्यक्ति बहुत कम होते हैं। प्रायः करके समाज में सांसारिक विषय-वासनाओं व राग-द्वेष से ओत-प्रोत मन वाले व्यक्तियों की ही बहुतायत होती है। इस प्रकार के मन वाले व्यक्तियों को शास्त्रों में विक्षिप्तचित्तभूमि वाले व्यक्ति कहा गया है। मन में राग-द्वेष की ओत-प्रोतता व विषयों के उपभोग में अत्यधिक रुचि होने से विक्षिप्तचित्तभूमि वाले व्यक्तियों के लिए अभ्यास और वैराग्य को अपना पाना असंभव-सा होता है। आवश्यकता होती है कि सर्वप्रथम किसी क्रियाप्रधान तरीके से धीरे-धीरे ऐसे व्यक्तियों के मन से राग-द्वेष की प्रकर्षता को मन्द किया जाय तथा विषयों के प्रति आकर्षण को कम किया जाय, ताकि उनका चित्त धीरे-धीरे समाहित कोटि का हो सके और समाधि-अवस्था की प्राप्त्यर्थ अभ्यास-वैराग्य को अपना सके। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए महर्षि पतञ्जलि विक्षिप्त-चित्तावस्था वाले व्यक्तियों के कल्याणार्थ इस पाद का प्रणयन करते हैं—

सूत्रभूमिका— आगे के सूत्रों को समझने से पहले मैं चाहूँगा कि आप चित्त की विक्षिप्तावस्था आदि के विषय में कुछ बातों को विस्तार से समझ लें। जैसा कि विक्षिप्त शब्द से ही स्पष्ट है कि इस अवस्था में मन एक प्रकार की अस्त-व्यस्तता व विचारों की पारस्परिक असम्बद्धता-अक्रमबद्धता से भरा होता है। प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि जब हमारा मन अत्यधिक आकांक्षाओं से भरा होता है, हम सांसारिक विषयभोग के प्रति अत्यधिक आकर्षित होते है तथा सांसारिक व्यक्ति-वस्तुओं के प्रति हमारी बन्धी-बन्धाई रागात्मक-द्वेषात्मक धारणाएँ उत्कर्ष पर होती हैं तो इन सब का यही आत्यन्तिक परिणाम निकलता है कि मनःस्तर पर हम एक प्रकार की अस्त-व्यस्तता से भर जाते हैं। इस मानसिक अस्त-व्यस्तता में सांसारिक-विषय हमें और अधिक रमणीय-कमनीय लगते हैं, जिससे हम उनकी ओर और तेजी से दौड़ते हैं। राग-द्वेष की धारणाएँ और अधिक घनीभूत हो जाती हैं तथा हमारा मन मृग-मरीचिका के जैसी आकांक्षाओं से और अधिक भर जाता है। इस प्रकार अन्ततः हमारे मन की दशा विक्षिप्त जैसी हो जाती है, जहाँ कोई क्रमबद्धता नहीं होती तथा ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति-निवृत्ति पर कोई आत्मिक नियन्त्रण नहीं होता, जिससे हमारी नैसर्गिक सहजता, हमारे मन की नैसर्गिक निर्दोष शान्ति खो-सी जाती है। यह मन की

विक्षिप्तावस्था है। सभी साधकों को यह बात स्पष्टतया समझ लेनी चाहिये कि ऐसी अवस्था वाले मन के द्वारा स्वयं को नही खोजा जा सकता। स्वयं को खोजने के लिए मन समाहित अर्थात् एकाग्र-अवस्था में होना चाहिये। द्वितीय यह बात भी हम सभी साधकों को समझ लेनी चाहिये कि योगदर्शनकार ने योगदर्शन के आरम्भ में ही 'अथ योगानुशासनम्' कहकर स्पष्ट कर दिया है कि यह योगदर्शन समाधि का शास्त्र है, जिसमें आत्मबोध के इच्छुक व्यक्तियों के लिये समाधि-अवस्था के लक्षण, समाधि-अवस्था के भेद, समाधि-अवस्था को प्राप्त करने के उपाय तथा समाधि-अवस्था के फलों की व्याख्या ही की जायेगी। यह बात मैं जोर देकर इसलिये लिख रहा हूँ ताकि आप योगदर्शन को नैतिकतापरक व्यवहारशास्त्रमात्र मानने की भूल न करें तथा 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' जैसे साधारण से प्रतीत होने वाले योगसूत्र के वास्तविक प्रयोजन व क्रियायोगाङ्ग तप, स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान के वास्तविक स्वरूप को समझ सकें।

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥1॥

शब्दार्थ— [तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि] तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये तीनों सांघातिक रूप से [क्रियायोगः] क्रियायोग कहलाते हैं।

सूत्रार्थ— तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये तीनों सांघातिक रूप से 'क्रियायोग' कहलाते हैं।

भावार्थ— योगाभ्यासी साधक का लक्ष्य 'समाधि' होता है, लेकिन उस समाधि की ओर प्रगति भी तभी हो सकती है, जब साधक का चित्त विक्षिप्तावस्था से ऊपर उठकर एकाग्रावस्था में पहुँच चुका हो। विक्षिप्त चित्तभूमि वाले साधक अपने चित्त को कैसे एकाग्रावस्था वाला बनायें ? इसके लिए महर्षि पतञ्जलि 'क्रियायोग' के नाम से तप, स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान नामक तीन साधनों को बताते हैं। इनका अर्थ निम्नाङ्कित है—

1. तप— 'द्वन्द्वसहनं तपः' अर्थात् 'शीत-उष्ण, सुख-दुःख, भूख-प्यास, मान-अपमान, हार-जीत आदि द्वन्द्वों को सहन करना तप है' ऐसा तप का शास्त्रीय लक्षण है। शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों के प्रसंग दो प्रकार के होते हैं, एक तो वे, जिन्हें हमने स्वयमेव उत्पन्न किया हो, यथा हम खुद आग जलाकर उसके पास बैठ गये हों। दूसरे वे, जो कि जीवन की सहज प्रक्रिया में परिस्थितिवश या संयोगवश स्वयमेव उपस्थित हो गये हों, यथा कभी किसी आवश्यक कार्यवश हमें अत्यधिक कड़ी धूप में कार्य करते हुए गर्मी को सहना पड़े। क्रियायोग के प्रसंग में प्रयुक्त हुए 'तपः' शब्द में दोनों प्रकार के द्वन्द्वों का ग्रहण है तथा विशेष रूप से प्रथम प्रकार

के द्वन्द्वों का ग्रहण है। लेकिन यह भी ध्यातव्य है कि तपश्चर्या से साधकों ने अपनी मूढ़तावश प्रायः शारीरिक व आध्यात्मिक हानि ही उठाई है। तपश्चर्या करने से पहले उन्होने यह भली-भाँति समझा ही नही कि तपश्चर्या मन के स्तर पर क्या परिणाम पैदा करने के लिए करनी है? तथा कैसे करनी है? इन दोनों बातों को साधकों के हितार्थ मैं यहाँ स्पष्ट कर देता हूँ। आध्यात्मिक दृष्टि से ये तथ्य प्रायः सर्वमान्य हैं कि–

[क] आत्मा, शरीर व मन ये तीनों सर्वथा पृथक् सत्तावान् हैं।
[ख] आत्मा शरीर व मन का अधिष्ठाता व नियन्ता है अर्थात् शरीर व मन आत्मा के अधीन कार्य करते हैं।
[ग] गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि शारीरिक घटनाएँ हैं तथा मान-अपमान, हार-जीत आदि मानसिक घटनाएँ हैं। शरीर व मन के साथ आत्मा का अति सघन तादात्मय बना होने की वजह से गर्मी-सर्दी आदि की शारीरिक घटनाएँ तथा मान-अपमान आदि की मानसिक घटनाएँ आत्मा को सुखी-दुःखी करती रहती हैं।

मेरा सभी साधकों से निवेदन है कि हम अपना निरीक्षण करके देखें कि क्या हम भी ऐसा अनुभव करते हैं? मैं समझता हूँ कि हम यही पायेंगे कि वैचारिक स्तर पर हम जानते हैं कि ऐसा है, लेकिन हम ऐसा अनुभव नही करते हैं। बस, ऐसे अनुभवों को जागृत करने के लिए ही तपश्चर्या का अनुष्ठान किया जाता है।

अब द्वितीय प्रश्न कि तपश्चर्या कैसे करनी चाहिये? उसकी तात्त्विक विधि यह है कि साधक स्वनिर्मित या संयोगवश समुपस्थित हुए सर्दी-गर्मी, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करते हुए मनःस्तर पर एक प्रकार की पृथक्ता बनाये रखे अर्थात् शरीर व मन के स्तर पर घटित होती इन घटनाओं को द्रष्टा की भाँति जानता रहे। निष्ठापूर्वक किये गये इस प्रकार के तपश्चर्यात्मक प्रयास से शरीर व मन के साथ बना आत्मा का तादात्मय शिथिल होगा, जिससे आत्मा को स्वयं के अधिष्ठातृत्व व नियन्तृत्व का बोध होगा। इस प्रकार विक्षिप्तचित्तावस्था से एकाग्रचित्तावस्था की ओर हमारा आरोहण होगा।

तपश्चर्या के अनुष्ठान में साधकों को ध्यान रखना चाहिये कि वह शारीरिक-मानसिक विकृति पैदा करने वाली न हो तथा लोक दिखावे के लिए न हो।

२. स्वाध्याय– आत्मोन्नति में सहायक साहित्य का अध्ययन करना, प्रतिदिन स्वयं का आत्मनिरीक्षण करना व पवित्र 'ओ३म्' आदि ध्वनियों का श्रद्धापूर्वक जप करना 'स्वाध्याय' कहलाता है।

३. ईश्वरप्रणिधान— अपने समस्त क्रिया-कलापों को अनन्य भक्ति के साथ परमपिता प्रभु को सर्वात्मना समर्पित कर देना, यहाँ तक कि उनके फल की भी चाह न करना 'ईश्वर-प्रणिधान' कहलाता है।

जिज्ञासा— 'क्रियायोग' का अभ्यास किसलिये किया जाता है?

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥2॥

शब्दार्थ— [समाधिभावनार्थः] समाधि की अवस्था आविर्भूत करने के लिये [क्लेशतनूकरणार्थः च] तथा क्लेशों को सूक्ष्म करने के लिए क्रियायोग का अभ्यास किया जाता है।

सूत्रार्थ— क्रियायोग का अभ्यास समाधि की अवस्था को आविर्भूत करने के लिये तथा क्लेशों को सूक्ष्म करने के लिए किया जाता है।

भावार्थ— समाधि का मतलब है—चित्त की चरम स्तर की निस्तरङ्ग अवस्था। इस अवस्था के उत्पन्न होते ही हमें स्वबोध होने लग जाता है। हमें स्वयं के होने का क्षीण-सा अहसास इस समय भी है, लेकिन इस समय वह शरीर-बोध से संकरित है तथा मन में हो रहे विचारों के सतत कोलाहल ने तो उसे तिरोहित-सा कर दिया है। मन मे हो रहे विचारों के कोलाहल के मुख्य रूप में दो कारण हैं— प्रथम सतत विचारमय अवस्था में रहने का अभ्यास पड़ जाना तथा द्वितीय चित्त मे अविद्या, अस्मिता आदि क्लेशों का उदार अवस्था में बने रहना है। तप-स्वाध्याय- ईश्वरप्रणिधान रूप 'क्रियायोग' का अभ्यास करने से चित्त में होने वाला विचारों का कोलाहल मन्द पड़ने लगता है तथा शरीर-बोध भी तिरोहित-सा होने लगता है, जिससे चित्त में समाधि की अवस्था आविर्भूत होने लगती है। इसके साथ-साथ यह भी होता है कि हमारे चित्त में बद्धमूल हो चुके अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आदि क्लेश तनू होने लगते हैं।

जिज्ञासा— 'क्लेश' कितने है?

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः॥3॥

शब्दार्थ— [अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः] अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश [पञ्च क्लेशाः] पाँच क्लेश हैं।

सूत्रार्थ— अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥4॥

शब्दार्थ— [अविद्या] अविद्या क्लेश [क्षेत्रम्] उत्पत्तिस्थान है, [उत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो-

दाराणाम्] अगले प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थाओं वाले अस्मिता आदि क्लेशों का।

सूत्रार्थ— अविद्या क्लेश, प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थाओं वाले अगले अस्मिता, राग आदि क्लेशों का उत्पत्तिस्थान है।

भावार्थ— सुबोधता के लिए क्लेशों को पाँचों भागों में बाँटा गया है, परन्तु वस्तुस्थिति कुछ इस प्रकार की है कि यह अविद्या क्लेश अन्य अस्मिता आदि क्लेशों के लिए उत्पत्तिस्थान स्वरूप है अर्थात् अविद्या रूप खेत में ही अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश क्लेश उत्पन्न होते हैं। इन सभी क्लेशों के स्वरूप को अग्रिम सूत्रों में क्रमशः स्पष्ट किया जायेगा। सभी योगाभ्यासियों को यह बहुत अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि अस्मिता आदि क्लेशों की चार अवस्थाए हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न व उदार। इन अवस्थाओं का स्वरूप निम्न प्रकार है—

1. प्रसुप्त अवस्था— अपनी प्रसुप्तावस्था में क्लेश सर्वथा अनभिव्यक्त या सोई हुई अवस्था में होते हैं। इस कारण अभिव्यक्ति के निमित्तक विषय के समुपस्थित होने पर भी अभिव्यक्त नहीं होते। जैसे-बालावस्था में कामवासना रूप रागात्मक क्लेश प्रसुप्त अवस्था में होता है।

2. तनु अवस्था— तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान रूप 'क्रियायोग' का तथा आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि योगाङ्गों का निरन्तर अभ्यास करने से क्लेशों की अभिव्यक्तात्मक तीव्रता मन्द पड़ जाती है, जिससे अभिव्यक्ति के निमित्तक विषयों के समुपस्थित होने पर भी, वे न तो शीघ्रता से उदारावस्था में आते हैं और उदारावस्था में आने पर भी उनमें प्रगाढ़ता नहीं होती। क्लेशों की इस प्रकार की अवस्था तनु अवस्था कहलाती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि योगाङ्गों के अभ्यास के द्वारा सम्पूर्ण क्लेश ही तनु होता है, किसी व्यक्ति-वस्तु विशेष के प्रति वर्तमान क्लेशमात्र नहीं। अभिप्राय यह है कि जैसे 'राग' क्लेश है, क्रियायोग के अभ्यास के द्वारा सम्पूर्ण राग ही तनु होगा, किसी व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष मात्र के प्रति वर्तमान राग नहीं अर्थात् समस्त व्यक्ति-वस्तुओं के प्रति आसक्ति मन्द पड़ेगी।

3. विच्छिन्न अवस्था— शाब्दिक दृष्टि से 'विच्छिन्न' शब्द का अर्थ होता है-'छिन्न-भिन्न'। इस प्रकार क्लेशों की विच्छिन्नावस्था का अर्थ होगा, वह अवस्था जब एक क्लेश किसी दूसरे प्रबल क्लेश के अभिव्यक्त होने की वजह से छिन्न-भिन्न या अनभिव्यक्त है। यथा-जब मन किसी व्यक्ति-वस्तु के प्रति अति रागयुक्त होता है, उस काल में किसी के प्रति द्वेष नहीं होता। द्वेष के न होने से यह न समझ लेना चाहिये कि द्वेष क्लेश का अस्तित्व समाप्त हो गया है। वस्तुस्थिति यह है कि राग क्लेश की प्रबलता की वजह से द्वेष क्लेश अनभिव्यक्त या विच्छिन्न हो गया है। आस्तित्विक दृष्टि से वह चित्त में ही है। जैसे-ही कोई प्रबल निमित्त समुपस्थित होगा, वैसे-ही द्वेष क्लेश प्रबल होकर अभिव्यक्त हो जायेगा तथा राग क्लेश विच्छिन्न या

अनभिव्यक्त हो जायगा।

4. उदार अवस्था— राग, द्वेष आदि क्लेश हमारे चित्त में संस्कार रूप में पड़े रहते हैं। इन संस्कारों को उद्दीप्त कर सकने वाला जब कोई व्यक्ति, वस्तु या विचार हमारे सामने आता है, तो ये क्लेश अपनी अभिव्यक्तावस्था में आ जाते हैं। संस्कारों की यह अभिव्यक्तावस्था ही उदार-अवस्था कहलाती है।

सूत्रभूमिका— अग्रिम सूत्रों में पाँचों क्लेशों के स्वरूप पर क्रमशः प्रकाश ड़ाला जायेगा। उसे समझने से पहले सभी क्लेशों के विषय में सम्मिलित रूप में यह बात समझ लें कि वस्तुतः कोई भी क्लेश सीधे-सीधे दुःख का हेतु नहीं है। वस्तुतः होता यह है कि अविद्या, अस्मिता आदि क्लेश कुल मिलाकर हमें स्वबोध व स्वरूपप्रतिष्ठा से विमुख रखते हैं तथा संसारिक व्यक्ति, वस्तु आदि के विषय में जानने व उनकी प्राप्ति के प्रति उन्मुख रखते हैं। इसकी प्रक्रिया यह होती है कि ये अविद्या आदि क्लेश हमारे चित्त में सांसारिक व्यक्ति, वस्तु, विचार आदि के विषय में एक प्रकार की आशात्मक धारणा जगाते हैं कि इन-इन के विषय में जान लेने पर, इन-इन को पा लेने पर और इन-इन को त्याग देने पर सुख की प्राप्ति होगी, जिससे वह अतृप्ति-सी, रिक्तता-सी, जो खाली होते ही हमें बेचैन करने लगती है, समाप्त हो जायेगी। इसी दुराशा के सहारे जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त हम सांसारिक व्यक्ति, वस्तु व विचारों के पीछे दौड़ते रहते हैं। ऐसा भी नहीं है कि इन सांसारिक वस्तुओं से सुख की प्राप्तिं न होती हो तथा उस रिक्तता की निवृत्ति न होती हो। सांसारिक वस्तुओं के द्वारा सुख की प्राप्ति भी होती है, जिससे रिक्तता की निवृत्ति भी होती हुई प्रतीत होती है, परन्तु इन वस्तुओं से प्राप्त होने वाला सुख क्षणिक होता है। इस कारण कुछ क्षणों बाद हम स्वयं को उतना ही अतृप्त व रिक्त-सा महसूस करते हैं, जितने की हम प्रारम्भ में थे। वास्तविकता तो यह है कि यह अतृप्ति-सी, रिक्तता-सी आत्मबोध व स्वरूपप्रतिष्ठा से ही निवृत्त होगी। अब अविद्या आदि क्लेशों के स्वरूप को क्रमशः समझते हैं—

जिज्ञासा— 'अविद्या' क्लेश का क्या स्वरूप है?

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥5॥

शब्दार्थ— [अनित्य-अशुचि-दुःख-अनात्मसु]अनित्य, अपवित्र, दुःख और अचेतन पदार्थों में क्रमशः [नित्य-शुचि-सुख-आत्मख्यातिः] नित्य, पवित्र, सुख और चेतनता का अहसास होना [अविद्या] अविद्या है।

सूत्रार्थ— अनित्य पदार्थों में नित्यता का, अपवित्र पदार्थों में पवित्रता का, दुःखोत्पादक पदार्थों में सुखमयता का तथा अचेतन पदार्थों में चेतन-सदृश अहसास का होना अविद्या कहलाती है।

भावार्थ— यदि हम अपने मन की ओर थोडा सूक्ष्मता से देखें तो पायेंगे कि हमारा मन एक प्रकार से सन्निपात ज्वर-सी की अवस्था में है। कितनी शोचनीय दशा है कि हमें जो चीज जैसी है, वैसी नही दिखती, बल्कि उल्टी दिखती है। हमें अनित्य पदार्थ नित्य भासता है, अपवित्र पदार्थ पवित्र दीख पड़ता है, दुःख सुख प्रतीत होता है तथा अचेतन पदार्थों में चेतनता का अहसास होता है। यह मिथ्याज्ञान या अयथार्थ-बोध की अवस्था है। यह ही 'अविद्या' है।

जिज्ञासा— 'अस्मिता' नामक क्लेश का क्या स्वरूप है?

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥6॥

शब्दार्थ— [दृग्दर्शनशक्त्योः] दृक्-शक्ति अर्थात् आत्मा और दर्शन शक्ति अर्थात् चित्त की [एकात्मता इव] एकात्मता-सी होना [अस्मिता] अस्मिता क्लेश है।

सूत्रार्थ— आत्मा और चित्त की एकात्मता-सी हो जाना 'अस्मिता' क्लेश कहलाता है।

भावार्थ— द्रष्टा आत्मा को कहते हैं तथा दर्शन-शक्ति शब्द चित्त के लिए प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आत्मा का चित्त के साथ तादात्मय-सा हो जाना 'अस्मिता' क्लेश है। प्रश्न उठता है कि चित्त-आत्मा का यह तादात्मय क्लेश कैसे है? इसका उत्तर यह है कि वे सभी स्थितियाँ-परिस्थितियाँ, जो कि आत्मा की संसारप्रतिष्ठा में साधक तथा स्वरूपप्रतिष्ठा में बाधक हैं, योग की दृष्टि में 'क्लेश' हैं। आत्मा व चित्त का यह तादात्मय आत्मा को स्वरूपप्रतिष्ठा से च्युत करता है व संसार में प्रतिष्ठित करता है तथा यह तादात्मय जितना प्रगाढ़ होता जाता है, आत्मा का स्वरूप में प्रतिष्ठित होना उतना ही कठिन होता जाता है इसलिये इस तादात्मय को क्लेश कहा गया है।

जिज्ञासा— 'राग' नामक क्लेश का क्या स्वरूप है

सुखानुशयी रागः ॥7॥

शब्दार्थ— [सुखानुशयी] सुख का अनुसरण करने वाला भाव, [रागः] राग नामक क्लेश है।

सूत्रार्थ— सुख का अनुसरण करने वाला भाव राग नामक क्लेश है।

भावार्थ— किसी भी सुख का उपभोग कर लेने के बाद हमारे चित्त में उस सुख की अनुस्मृतिपूर्वक, उस सुख तथा उस सुख के साधनों के प्रति एक प्रकार का लगाव का भाव आविर्भूत होता है, जो कि हमें आन्तरिक रूप से उन सुख के साधनों के द्वारा उस सुख को

पुनः प्राप्त करके उपभोग करने के लिए बार-2 प्रेरित करता है। सुखानुभूति के साथ-2 जन्म लेने वाला यह लगाव का भाव ही योग की भाषा में 'राग' नामक क्लेश है।

जिज्ञासा– 'द्वेष' नामक क्लेश का क्या स्वरूप है?

दुःखानुशयी द्वेषः ॥8॥

शब्दार्थ– [दुःखानुशयी] दुःख का अनुसरण करने वाला भाव [द्वेषः] द्वेष नामक क्लेश है।

सूत्रार्थ– दुःख का अनुसरण करने वाला भाव 'द्वेष' नामक क्लेश है।

भावार्थ– किसी भी दुःख से पीड़ित होने पर हमारे चित्त में उस दुःख की अनुस्मृतिपूर्वक, उस दुःख तथा उस दुःख के हेतुओं के प्रति एक प्रकार की घृणा का भाव आविर्भूत होता है, जो कि हमें आन्तरिक रूप से उस दुख के हेतुओं की पुनरावृत्ति रोकने के लिए बार-बार प्रेरित करता है। दुःखानुभूति के साथ-साथ जन्म लेने वाला यह विलगाव या अलगाव का भाव ही योग की भाषा में 'द्वेष' नामक क्लेश है।

जिज्ञासा– 'अभिनिवेश' नामक क्लेश का क्या स्वरूप है?

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथाऽऽरूढोऽभिनिवेशः ॥9॥

शब्दार्थ– [स्वरसवाही] नैसर्गिक रूप से प्रवाहित होने वाला वह भाव, जो [विदुषः अपि तथा आरूढ़ः] विद्वान् पुरुष के अन्तःकरण में भी उसी प्रकार आरूढ है, जिस प्रकार अविद्वान् के अन्तःकरण में [अभिनिवेशः] अभिनिवेश क्लेश कहलाता है।

सूत्रार्थ– नैसर्गिक रूप से प्रवाहित होने वाला मरणत्रासरूपी भाव, जो कि विद्वान् के अन्तःकरण में भी उसी प्रकार आरूढ़ है, जिस प्रकार अविद्वान् के अन्तःकरण में, 'अभिनिवेश' क्लेश कहलाता है।

भावार्थ– 'स्वरस' स्वभाव को कहते हैं तथा 'वाही' शब्द का अर्थ होता है 'बहने वाला'। इस प्रकार 'स्वरसवाही' का अर्थ हुआ–'स्वभावतः प्रवाहित होने वाला'। 'क्लिशनाति इति क्लेशः' अर्थात् वह भाव, जो अन्तःकरण में पीड़ा पहुँचाये, 'क्लेश' कहलाता है। यह क्लेश की शास्त्रीय परिभाषा है। यह क्लेश का प्रकरण चल रहा है इसलिये सूत्र का शब्दशः पूर्ण अर्थ होगा–'स्वभावतः प्रवाहित होने वाला वह पीड़ादायक भाव, जो कि विद्वान् के अन्तःकरण में भी उसी प्रकार आरूढ़ है, जिस प्रकार अविद्वान् के अन्तःकरण में 'अभिनिवेश' क्लेश कहलाता है।' जब हम चिन्तन करेंगे कि वह कौन-सा भाव है?, तो पायेंगे कि वह 'आंशिक या पूर्ण शरीरोच्छेद का भयात्मक भाव' है। लौकिक भाषा में स्थूलरूप से हम यह भी कह सकते हैं

कि–'मृत्युभय ही अभिनिवेश क्लेश है।'

आत्मा, चित्त व शरीर तीनों सर्वथा पृथक् सत्तावान् पदार्थ हैं। चित्त व शरीर आत्मा के साधन हैं तथा आत्मा उनका स्वामी है। आत्मा का चित्त व शरीर के साथ एक प्रकार का आस्तित्विक तादात्मय बना हुआ है, जिस कारण शरीरनाश स्वनाश प्रतीत होता है। इसे ही यहाँ 'अभिनिवेश क्लेश' कहा है। अभिनिवेश क्लेश से विद्वान्-अविद्वान् आदि सभी का अन्तःकरण समानरूप से ग्रस्त है। जहाँ तक यह प्रश्न है कि जिन विद्वान् पुरुषों ने दशकों तक आध्यात्मिक शास्त्रों में आत्मा व शरीर की पृथक्ता, उनके मध्य बने हुए तादात्मय आदि के बारे में विस्तार से अध्ययन-मनन किया है, उनका यह तादात्मयजनित अभिनिवेश क्लेश दूर क्यों नहीं हो जाता? इसका उत्तर यह है कि आत्मा-शरीर के तादात्मय से उत्पन्न हुआ यह अभिनिवेश क्लेश शास्त्रों के अध्ययन-मनन मात्र से निवृत्त नही होता, बल्कि उसके साथ-साथ साधना करने से निवृत्त होता है।

जिज्ञासा– क्लेशों से पूरी तरह छुटकारा कैसे होगा?

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥10॥

शब्दार्थ– [ते] वे क्लेश [प्रतिप्रसवहेयाः] प्रतिप्रसव प्रक्रिया के द्वारा सर्वथा समाप्तव्य हैं, [सूक्ष्माः] जो कि सूक्ष्म हो गये हैं।

सूत्रार्थ– वे क्लेश, जो कि सूक्ष्म हो गये हों, प्रतिप्रसव प्रक्रिया के द्वारा सर्वथा नष्ट किये जा सकते हैं।

भावार्थ– इसी पाद के द्वितीय सूत्र में 'अविद्या आदि क्लेशों का तनू अवस्था वाला हो जाना' क्रियायोग के अभ्यास का परिणाम बताया गया है। इससे सभी साधकों को यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि क्रियायोग के अभ्यास के द्वारा अविद्या आदि क्लेश तनू-अवस्था तक ही पहुँच सकते हैं। यह भी हम सभी का अनुभव है कि तनू हुए क्लेश स्व-अभिव्यक्ति के निमित्त के उपस्थित होने पर देर-सबेर वृत्ति रूप अवस्था अर्थात् अभिव्यक्तावस्था में आ ही जाते हैं। अग्रिम सूत्र में देर-सबेर प्रकट होने वाली तनू क्लेशों की इन वृत्तियों से मुक्ति का उपाय 'ध्यान' बताया गया है। ध्यान का लम्बे समय तक अभ्यास करने के बाद ऐसा होता है कि तनू हुए अविद्या आदि क्लेश अपनी अभिव्यक्ति के निमित्तों के उपस्थित होने पर भी वृत्ति रूप अवस्था में नहीं आते। ऐसी अवस्था में पहुँचे क्लेशों को ही प्रकृत सूत्र में 'सूक्ष्माः' शब्द के द्वारा कहा है। इन सूक्ष्म अवस्था वाले क्लेशों के विषय में ऐसी घोषणा नहीं की जा सकती कि ये क्लेश अभिव्यक्तावस्था में आ ही नहीं सकते। यदि लम्बे समय तक ध्यान के अभ्यास

को छोड़ दिया जाय, तो धीरे-धीरे वही पहले वाली स्थिति आ जाती है। ऐसी स्थिति में सभी के मन में जिज्ञासा उठती है कि क्या सूक्ष्म अवस्था वाले इन क्लेशों से आत्यन्तिक मुक्ति का कोई उपाय नही है ? इसी जिज्ञासात्मक प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि– 'प्रतिप्रसव प्रक्रिया के द्वारा सूक्ष्म अवस्था वाले क्लेशों से आत्यन्तिक छुटकारा संभव है।' कार्य-अवस्था को कारण-अवस्था में लीन करने की प्रक्रिया को 'प्रतिप्रसव' कहते हैं। यह भी हम सभी जानते हैं कि अविद्या आदि क्लेशों की सूक्ष्म, प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न व उदार अवस्थाओं का आश्रय चित्त है। यह भी सभी साधकों को बिल्कुल स्पष्टतया समझ लेना चाहिये कि किसी भी तरह क्रियायोग आदि के अभ्यास के द्वारा क्लेशों को सूक्ष्म अवस्था से क्षीण अवस्था में नहीं पहुँचाया जा सकता। यदि हम क्लेशों से आत्यन्तिक छुटकारा चाहते हैं, तो इसका उपाय यही है कि असम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास के द्वारा चित्त को उसके कारण मूल प्रकृति में विलीन कर दिया जाय, जिससे उसको आश्रय बनाकर ठहरने वाले सूक्ष्म अवस्था वाले अविद्या आदि क्लेश भी तिरोहित हो जायें। यही आशय सूत्र में 'प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः' शब्दों के द्वारा व्यक्त किया गया है।

जिज्ञासा– तनू हुए क्लेश स्व-अभिव्यक्ति-निमित्त के उपस्थित होने पर देर-सबेर वृत्ति रूप अवस्था में आ जाते हैं। तनू हुए क्लेशों की इस वृत्ति रूप अवस्था से छुटकारे का क्या उपाय है ?

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥11॥

शब्दार्थ– [ध्यानहेयाः] ध्यान के द्वारा हटानी चाहिये, [तद्वृत्तयः] उन सूक्ष्मीकृत क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ।

सूत्रार्थ– क्रियायोग के निरन्तर अभ्यास के द्वारा तनू हो चुके क्लेशों की स्थूल-वृत्तियाँ ध्यान के अभ्यास के द्वारा हटानी चाहिये।

भावार्थ– इस पाद के द्वितीय सूत्र में 'अविद्या आदि क्लेशों का तनू अवस्था वाला हो जाना' क्रियायोग के अभ्यास का परिणाम बताया गया है। इससे सभी साधकों को यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि क्रियायोग के अभ्यास के द्वारा अविद्या आदि क्लेश तनू-अवस्था तक ही पहुँच सकते हैं। यह भी हम सभी का अनुभव है कि तनू हुए क्लेश स्व-अभिव्यक्ति के निमित्त के उपस्थित होने पर देर-सबेर वृत्ति रूप अवस्था अर्थात् अभिव्यक्तावस्था में आ ही जाते हैं। प्रकृत सूत्र में देर-सबेर प्रकट होने वाली तनू क्लेशों की इन वृत्तियों से मुक्ति का उपाय 'ध्यान' बताया गया है। 'ध्यानं हि निर्विषयं मनः' अर्थात् "निर्विषय मन की अवस्था ही

'ध्यान' है", ऐसा शास्त्रकारों ने ध्यान का लक्षण किया है। जब हम अपने साधनकाल में मन को लम्बे समय तक विषयरहित अवस्था में रखने में सक्षम हो जाते हैं, तो हम पाते हैं कि तनू हुए क्लेश अपनी अभिव्यक्ति के निमित्तों के उपस्थित होने पर भी वृत्ति रूप अवस्था में नही आते। इसका यह आशय नहीं है कि वे वृत्ति रूप अवस्था में नहीं आ सकते। यदि लम्बे समय तक ध्यान के अभ्यास को छोड़ दिया जाय, तो धीरे-धीरे वही पहले वाली स्थिति हो जाती है कि अभिव्यक्ति के निमित्त के उपस्थित होने पर क्लेश देर-सबेर वृत्तिरूप अवस्था में आ जाते हैं।

सङ्गति– आध्यात्मिक परिवेश में बहुधा श्रूयमाण 'कर्माशय' का क्लेशों से बहुत गहरा सम्बन्ध है इसलिये उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए मुनिवर विषय को आगे बढाते हैं–

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥12॥

शब्दार्थ– [क्लेशमूलः] अविद्या आदि पञ्च क्लेश मूल वाले हैं [कर्माशयः] कर्मों के संस्कार, जो कि [दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः] दृश्यमान इस वर्तमान जन्म में और अदृश्यमान भावी जन्मों में भोग्य हैं।

सूत्रार्थ– अविद्या आदि पञ्च क्लेश मूल वाले हैं कर्मों के संस्कार, जिनका फल दृश्यमान इस वर्तमान जन्म में और अदृश्यमान भावी जन्मों में भोगा जाता है।

भावार्थ– शरीर, वाणी व मन के द्वारा की गयी चेष्टाएँ 'कर्म' कहलाती हैं। शरीर, वाणी व मन के द्वारा की गयी ये चेष्टाएँ हमारे चित्त पर अङ्कित हो जाती हैं। चित्ताङ्कित ये चेष्टाएँ ही 'संस्कार' कहलाती हैं। इस प्रकार 'कर्माशय' का अर्थ हुआ–'कर्मों के संस्कार'। कर्मों के ये संस्कार दो प्रकार के हो सकते हैं–1. पुण्यात्मक, 2. अपुण्यात्मक। इसके साथ-साथ हमें यह भी जान लेना चाहिये कि पुण्यात्मक व अपुण्यात्मक दोनों प्रकार के कर्म अविद्या, अस्मिता आदि क्लेशों से प्रेरित होकर किये जाते हैं इसलिये क्लेशमूल वाले कहे जाते हैं। ये 'कर्मसंस्कार' कर्मकर्ता को दृश्यमान इस वर्तमान जन्म में व अदृश्यमान भावी जन्म में फल देते हैं।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥13॥
ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥14॥

शब्दार्थ– [सति मूले] मूल के होने पर [तद्विपाकः] उस कर्माशय का विपाक [जात्यायुर्भोगाः] जाति, आयु और भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के रूप में होता है। विपाकरूप में प्राप्त [ते] वे जाति, आयु और भोग्य पदार्थ [ह्लाद-परितापफलाः] सुख तथा दुखरूप फल देने वाले होते हैं [पुण्य-अपुण्यहेतुत्वात्] पुण्य कर्मों और पाप कर्मों से उत्पन्न होने के कारण।

सूत्रार्थ— अविद्या आदि क्लेशों रूपी मूलकारण के बने रहने पर ही, पूर्वसूत्र में वर्णित कर्मसंस्कारों का विपाक जाति, आयु और भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के रूप में होता है। विपाकरूप में प्राप्त वे जाति, आयु और भोग्य पदार्थ सुख तथा दुख के रूप में फल देते हैं, पुण्य कर्मों और पाप कर्मों से उत्पन्न होने से।

भावार्थ— 'अविद्या आदि क्लेशों रूपी मूलकारण के बने रहने पर ही, कर्मसंस्कारों का विपाक जाति, आयु और भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के रूप में होता है'—यह कर्मव्यवस्था का एक मान्य सिद्धान्त है। इस विषय में जहाँ तक यह प्रश्न है कि अविद्या आदि क्लेशों रूपी मूल के बने रहने पर ही क्यों ? तो इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि वस्तुतः अविद्या आदि क्लेश ही द्रष्टा आत्मा व दृश्य प्रकृति के परस्पर जुड़े रहने का कारण हैं। योगसाधना के द्वारा जब अविद्या आदि क्लेश नष्ट हो जाते हैं, तो यह संयोग भी विखंड़ित हो जाता है, कर्मसंस्कारों का आधार चित्त भी स्वकारण मूल प्रकृति में विलीन हो जाता है। तैसी दशा में कर्मसंस्कारों का विपाक कैसे और किसके लिए संभव हो पायेगा ? यह स्वयमेव चिन्तनीय है।

'विपाकरूप में प्राप्त वे जाति, आयु और भोग्य पदार्थ सुख तथा दुःख के रूप में फल देते हैं, पुण्य कर्मों और पाप कर्मों से उत्पन्न होने से'—यह भी कर्मव्यवस्था का एक मान्य सिद्धान्त है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि कर्मसंस्कारों के विपाकरूप में प्राप्त वे जाति, आयु और भोग्य पदार्थ कर्मकर्ता को सुख या दुःख प्रदान करते हैं। यदि कोई पूछे कि सुख या दुःख किस आधार पर प्रदान करते हैं ? तो इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि कर्मों की पुण्यात्मकता व अपुण्यात्मकता के आधार पर। पुण्य कर्मों से फल रूप में सुख मिलता है तथा अपुण्य कर्मों से फल रूप में दुःख मिलता है।

सङ्गति— एक अजागरूक सांसारिक व्यक्ति को संसार के सुखमय पदार्थ बहुत सुखकारी प्रतीत होते हैं उसके विपरीत एक जागरूक योगमार्ग के पथिक को संसार के सुख कैसे प्रतीत होते हैं, यह बताते हुए मुनिवर विषय को आगे बढाते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥15॥

शब्दार्थ— [परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैः] परिणामदुःख, तापदुःख, और संस्कारदुःखों से युक्त होने से [गुणवृत्तिविरोधात् च] तथा सत्त्व आदि गुणों की वृत्तियों का परस्पर विरोध होने से [दुःखम् एव सर्वम्] दुःखरूप ही होते हैं सब सुख [विवेकिनः] विवेकी पुरुष के लिये।

सूत्रार्थ— परिणामदुःख, तापदुःख, और संस्कारदुःखों से युक्त होने से तथा सत्त्व आदि गुणों की वृत्तियों का परस्पर विरोध होने से विवेकी पुरुष के लिये सभी सुख भी दुःखरूप ही होते हैं।

भावार्थ— संसार के दुःख तो प्रकटतः ही दुःखदायी हैं, परन्तु यदि हम विषयसुखों की परिणामदुःखता, तापदुःखता, संस्कारदुःखता तथा सत्त्वादि गुणों की अस्थिरता व परस्पर विरोधात्मक प्रवृत्ति पर विचार करें, तो हम अनुभव करेंगे कि विषयसुख भी कुल मिलाकर दुःखदायी ही हैं। अभ्यासियों के सुबोधार्थ विषयों की परिणामदुःखता आदि को नीचे स्पष्ट किया जाता है—

1. विषयसुखों की परिणामदुःखता— यह तो हम सभी का अनुभव है कि विषय का उपभोग करने से इन्द्रियाँ सदैव के लिए तृप्त नही हो जाती, जिससे कुछ काल के बाद उस विषय का पुनः उपभोग करने की इच्छा होती है। अब यदि पुनः उस विषय के उपभोग के द्वारा इन्द्रियों की तृप्ति नहीं की जाती तो प्रकटतः मानसिक कष्ट होता ही है और यदि इन्द्रियों की तृप्ति कर दी जाती है, तो इन्द्रियों की उस विषय में आसक्ति बढ़ जाती है, जिससे अगली बार उस विषय का उपभोग करने की आकांक्षा पूर्व की अपेक्षा प्रबल होती है, जिसकी पूर्ति न करने पर पूर्व की अपेक्षा अधिक मात्रा में मानसिक कष्ट होता है। विषय-उपभोग के द्वारा इन्द्रियों को पुनः-पुनः तृप्त करते रहने से इन्द्रियाँ विषयोपभोग में अतिकुशल हो जाती हैं, जिसके परिणामस्वरूप अब वे अपेक्षाकृत उच्चकोटि के साधनों के द्वारा तथा अधिक मात्रा के द्वारा तृप्त हो पाती हैं। सतत विषयोपभोग से विषयसुखों में तृष्णा बलवती होती जाती हैं तथा इन्द्रियाँ दुर्बल होती जाती हैं। अन्ततः इन्द्रियों की विषयोपभोग सामर्थ्य बिल्कुल समाप्त हो जाती है, परन्तु बढी हुई तृष्णा हमें आन्तरिक रूप से पीड़ित करती रहती है। तृष्णा का बलवती होते जाना, इन्द्रियों का दुर्बल हो जाना इत्यादि यह सब विषयसुखों की परिणाम में 'दुःखदायिता' है।

2. विषयसुखों की तापदुःखता— विषयसुखों को उपलब्ध करने के लिए व्यक्ति को अनेक कष्टों को सहना पड़ता है, अनेक क्रूर-अक्रूर कर्म करने पड़ते हैं। विषयसुख उपलब्ध हो जाने पर भी उसके छिन जाने का भय मन में बना रहता है। यह सब विषयसुखों की तापदुःखता है।

3. विषयसुखों की संस्कारदुःखता— विषयसुखों का उपभोग करने से उसके संस्कार चित्त पर पड़ते हैं, जिससे उनके प्रति राग उत्पन्न होता है। राग के संस्कारों के परिणामस्वरूप व्यक्ति उन्हें पुनः-2 प्राप्त करने का यत्न करता है। यह भी स्वाभाविक है कि उन विषयसुखों की प्राप्ति में कुछ चीजें साधक होती हैं तथा कुछ चीजें बाधक होती हैं। अब आदमी का विषयसुखों की प्राप्ति में साधकों के प्रति राग उत्पन्न होता है तथा बाधकों के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। इनके संस्कार भी उसके चित्त पर पड़ते हैं। आदमी विषयसुखों की प्राप्ति में साधकों के ऊपर अनुग्रह करता है तथा बाधकों को पीड़ा पहुँचाता है। इन अनुग्रह व परपीड़ा रूप शुभ-अशुभ कर्मों के संस्कार भी उसके चित्त पर पड़ते हैं। ये सब संस्कार आदमी को जन्म-मरण के अन्तहीन चक्र

में बाँधे रखते हैं। यही विषयसुखों की संस्कारदुःखता है।

4. सत्त्वादि गुणों की परस्पर वृत्तिविरोधिता— दार्शनिक दृष्टि से समस्त सृष्टि त्रिगुणी है। हमारा चित्त भी त्रिगुणी है। यह हम सभी जानते हैं कि चित्त में सत्त्व गुण की प्रधानता होने पर हमें सुख की अनुभूति होती है, रजस् की प्रधानता होने दुःख की तथा तमस् की प्रधानता होने पर मूढ़ता की अनुभूति होती है। सत्त्वादि तीनों गुणों की प्रधानता-अप्रधानता सतत परिवर्तनशील है इसलिये सत्त्व गुण की प्रधानता के बाद रजोगुण की प्रधानता तथा उसके बाद तमोगुण की प्रधानता भी अवश्यंभावी है अर्थात् सुख के बाद दुःख तथा उसके बाद मूढ़ता की प्राप्ति होना निश्चित है। यही सत्त्वादि गुणों की अस्थिरता तथा परस्पर वृत्तिविरोधिता है।

अन्त में साधकों के हितार्थ एक निर्देश देना चाहूँगा दुःख के विषय में ऊपर किया गया वर्णन आपको दुःखों के प्रति धृणा भाव से भरने के लिए नहीं है, बल्कि विषयसुखों के पीछे चल रही अन्धदौड़ के प्रति सचेत करने के लिये है कि थोड़ा होश में आकर देखो कि जिस विषयसुख के पीछे अन्धे होकर दौड़े जा रहे हो, वह भी दुःखापदा से सर्वथा रहित नहीं है।अन्ततः उससे भी अशान्ति ही मिलती है तथा हम पहले से भी अधिक अतृप्त हो जाते हैं। विषयसुखदौड़ से स्वयं को थोड़ा विमुख करो तथा अन्दर की ओर चलना शुरू करो ताकि वास्तविक सुख, शान्ति, समृद्धि व तृप्ति आदि के रूप में कुछ सार्थक मिल सके।

सङ्गति— उपरोक्त विषय को ही आगे बढाते हुए मुनिवर कहते हैं—

हेयं दुःखमनागतम् ॥16॥

शब्दार्थ— [हेयम्] त्याज्य है [दुःखम् अनागतम्] भावी दुःख।

सूत्रार्थ— भावी दुःख त्याज्य है।

भावार्थ— दुःख क्या है? "प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्" अर्थात् इन्द्रिय के द्वारा अनुभव की जाने वाली प्रतिकूल अनुभूति "दुःख" कहलाती है। दुःख को कोई भी अनुभव नहीं करना चाहता, सभी इससे स्वयं को बचाने का भरसक प्रयत्न करते हैं इसलिये दुःख त्याज्य है। प्रकृत सूत्र में भविष्य में आने वाले दुःख को त्याज्य बताया गया है, प्रश्न उठता है कि क्या वर्तमानकालिक व अतीतकालिक दुःख त्याज्य नहीं है? वस्तुतः दुःखमात्र त्याज्य है, लेकिन अतीतकालिक दुःख तो भोगा या सहन किया जा चुका है इसलिए उसका त्यागना तो हो ही नहीं सकता। द्वितीय वर्तमानकालिक दुःख भी वर्तमान क्षणों में भोगारूढ है, दुःखोपाय के क्षण में यह भी अतीतकालिक हो जायेगा इसलिये इसका भी त्यागना नहीं हो सकता। अनुमानित भावी दुःख

से बचने का ही कोई उपाय किया जा सकता है इसलिये इस सूत्र में भावी दुःख को त्याज्य बताया है।

जिज्ञासा– 'दुःख' का कारण क्या है?

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥17॥

शब्दार्थ– [द्रष्टृदृश्ययोः] द्रष्टा आत्मा और दृश्य प्रकृति का [संयोगः] संयोग [हेयहेतुः] दुःख का कारण है।

सूत्रार्थ– द्रष्टा आत्मा और दृश्य प्रकृति का संयोग दुःख का कारण है।

भावार्थ– द्रष्टा आत्मा को कहते हैं तथा द्रष्टा आत्मा के विषयभूत प्रकृति के विकार चित्त आदि पदार्थ 'दृश्य' कहलाते हैं। यह प्रसंगवश अनेकत्र स्पष्ट किया जा चुका है कि आत्मा का चित्त के साथ घनीभूत तादात्मय बना हुआ है। इस घनीभूत तादात्मय की वजह से ही आत्मा व चित्त के मध्य एक प्रकार का सम्पर्क बना हुआ है या कह सकते हैं कि द्रष्टाभूत आत्मा व दृश्यभूत चित्त का संयोग बना हुआ है। यह संयोग ही दुःख का कारण है क्योंकि इस संयोग के कारण ही आत्मा का इष्ट पदार्थों से राग तथा अनिष्ट पदार्थों से द्वेष बनता है, इस राग-द्वेष से पीड़ित हुआ व्यक्ति किसी का भला करता है तथा किसी का बुरा करता है, जिससे उसका अच्छा-बुरा कर्म होता है, वह अच्छा-बुरा कर्म ही अन्ततः सुख-दुःख के रूप में फलीभूत होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्रष्टा-दृश्य का संयुक्त रहना ही हेय 'दुःख' का कारण है।

जिज्ञासा– 'दृश्य' प्रकृति का क्या स्वरूप है?

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥18॥

शब्दार्थ– [प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्] प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाव वाला, [भूतेन्द्रियात्मकम्] भूत और इन्द्रिय स्वरूप वाला, [भोगापवर्गार्थम्] भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, वह [दृश्यम्] दृश्य है।

सूत्रार्थ– वह सत्तात्मक द्रव्य जो कि प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाव वाला है, भूत और इन्द्रिय स्वरूप वाला है तथा भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, वह 'दृश्य' है।

भावार्थ– पूर्वसूत्र में द्रष्टा-दृश्य के संयोग को दुःख का कारण बताया गया है। जिज्ञासा होती है कि द्रष्टा-दृश्य का क्या स्वरूप है? द्रष्टा के स्वरूप को आगे स्पष्ट किया गया है। यहाँ दृश्य के स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है। यह हम सभी जानते हैं कि सृष्टि के समस्त दृश्यमान-अदृश्यमान

नेत्र, श्रोत्र, चित्त, इन्द्रिय आदि पदार्थ प्रकृति से बने हैं। इस प्रकार द्रष्टा 'आत्मा' के लिये 'प्रकृति' [जो की इस समय पदार्थ के रूप में परिणमित है] ही 'दृश्य' है। इस दृश्यमान प्रकृति के स्वरूप को ही तात्त्विक दृष्टि से इस सूत्र में उद्घाटित किया गया है। सूत्र में 'दृश्य' प्रकृति का स्वरूप निम्नांकित तीन तथ्यों के रूप में स्पष्ट किया गया है–

१. दृश्यभूत प्रकृति प्रकाश, क्रिया व स्थिति स्वभाव वाली है–

प्रकृति त्रिगुणी है अर्थात् सत्त्व, रजस्, तमस् रूप तीन अविभाज्य अवयव वाली है। सत्त्व प्रकाशन स्वभाव वाला है, रजस् क्रिया स्वभाव वाला है तथा तमस् स्थिति स्वभाव वाला है। ये तीनों परिणामी हैं अर्थात् इनकी अवस्था सतत बदलती रहती है। सत्त्व आदि तीनों परस्पर मुख्य-गौण भाव से काम करते हैं अर्थात् जब सत्त्व पदार्थ प्रकाशन करता है, तब सत्त्व मुख्य होता है तथा रजस्-तमस् गौण हुए उसके सहकारी होते हैं। इसी प्रकार रजस्-तमस् की मुख्यभावता को भी समझ लेना चाहिये।

२. दृश्यभूत प्रकृति भूत-इन्द्रिय स्वरूप वाली है–

दृश्य के रूप में यह प्रकृति भूत व इन्द्रिय स्वरूप वाली है। भूत दस हैं पाँच स्थूलभूत–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा पाँच सूक्ष्मभूत– शब्द, स्पर्श रूप, रस व गन्ध तन्मात्र। इन्द्रियों के अन्तर्गत यहाँ तेरह चीजें परिगणित होंगी–पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ–रस, नेत्र, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण और पाँच कर्मेन्द्रियाँ–आँख, नाक, कान, उपस्थ, पायु तथा तीन सूक्ष्मेन्द्रियाँ–मन, अहंकार, बुद्धि+चित्त।

३. दृश्यभूत प्रकृति भोग-अपवर्ग रूप प्रयोजन वाली है–

भूत और इन्द्रिय के रूप में परिणमित प्रकृति निष्प्रयोजन नहीं है, वरन् द्रष्टा आत्मा के भोग व अपवर्ग रूप प्रयोजन को पूर्ण करने के लिए है। भोग क्या है ? आत्मा-चित्त के पार्थक्य बोध से रहित होकर, जो सुख-दुःख का अनुभव होना है, वह 'भोग' कहलाता है। अपवर्ग क्या है ? आत्मा-चित्त का पार्थक्य बोध 'अपवर्ग' कहलाता है। ये दोनों प्रयोजन दृश्यभूत प्रकृति के माध्यम से ही पूरे किये जाते हैं या होते हैं। इस रूप में भोग-अपवर्ग दृश्यभूत प्रकृति के प्रयोजन हैं।

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥19॥

शब्दार्थ– [विशेषाऽविशेष-लिङ्गमात्र-अलिङ्गानि] विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग ये [गुणपर्वाणि] गुणों की परिणमित अवस्थाएँ हैं।

सूत्रार्थ— विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग ये सत्त्वादि गुणों की पदार्थों के रूप में परिणमित अवस्थाएँ हैं।

भावार्थ— हमें यह सतत स्मरण रखना चाहिये कि सत्त्व, रजस्, तमस् वह प्रकृति के अविभाज्य अवयव हैं, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस हेतु से ऊपर सूत्र में कहे गये 'गुणपर्वाणि' शब्द का तात्पर्यार्थ है—त्रिगुणमयप्रकृतिपर्वाणि। इस परिप्रेक्ष्य में वास्तविक सूत्रार्थ होगा— विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग ये त्रिगुणमयप्रकृति की पदार्थों के रूप में परिणमित अवस्थाएँ हैं। विशेष, अविशेष आदि ये सभी दर्शनशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं अर्थात् दार्शनिक साहित्य में ये अर्थविशेषों में प्रयुक्त किये जाते हैं। नीचे इन्हें क्रमशः स्पष्ट किया जाता है—

1. **विशेष**— पाँच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना व नासिका), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हस्त, पाद, पायु व उपस्थ) तथा मन, ये सोलह पदार्थ दार्शनिक जगत् में 'विशेष' के नाम से जाने जाते हैं।
2. **अविशेष**— पाँच तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध) व अहंकार, ये छः पदार्थ दार्शनिक जगत् में 'अविशेष' के नाम से जाने जाते हैं।
3. **लिङ्गमात्र**— महत् तत्व को दार्शनिक भाषा में 'लिङ्गमात्र' कहा जाता है। यह प्रकृति का प्रथम विषम परिणाम है।
4. **अलिङ्ग**— मूल प्रकृति को दार्शनिक भाषा में 'अलिङ्ग' कहा जाता है।

यह भी ध्यातव्य है कि विशेष, अविशेष तथा लिङ्गमात्र सत्त्वादि गुणों की विषमरूप से विपरिणमित अवस्थाएँ हैं तथा अलिङ्ग सत्त्वादि गुणों की समरूप से विपरिणमित अवस्था है।

जिज्ञासा— 'द्रष्टा' आत्मा का क्या स्वरूप है ?

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥20॥

शब्दार्थ— [द्रष्टा] द्रष्टारूप आत्मा [दृशिमात्रः] केवल ज्ञानमात्र है, जो कि [शुद्धः अपि] निर्विकार होते हुए भी [प्रत्ययानुपश्यः] वृत्तियों के अनुरूप देखने वाला है।

सूत्रार्थ— द्रष्टारूप आत्मा केवल ज्ञानमात्र है, जो कि निर्विकार होते हुए भी वृत्तियों के अनुरूप देखने वाला है।

भावार्थ— इन्द्रियों का अधिष्ठाता आत्मा चित्त व्यापार का द्रष्टा है, यह अनेकत्र बताया गया है। लेकिन इतना मात्र कह देने से उसका स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो जाता है। सूत्र 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धः अपि प्रत्ययानुनश्यः' से बनने वाली 'द्रष्टा दृशिमात्रः अस्ति' तथा 'द्रष्टा शुद्धः

अपि प्रत्ययानुपश्यः अस्ति' इन वाक्यावलियों के द्वारा द्रष्टा का स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो गया है। इन्हें क्रमशः नीचे स्पष्ट किया जाता है–

१- द्रष्टा दृशिमात्रः अस्ति अर्थात् ज्ञाता आत्मा ज्ञानशक्तिमात्र है अर्थात् ऐसा नहीं है कि आत्मा एक अलग चीज हो और जानना उसका गुण हो। यहाँ आत्मा और जानने की शक्ति में गुण-गुणी या धर्म-धर्मी सम्बन्ध नहीं है।

२- द्रष्टा शुद्धः अपि प्रत्ययानुपश्यः अस्ति अर्थात् द्रष्टा आत्मा शुद्ध होते हुए भी वृत्तियों के अनुसार जानने वाला है। सर्वप्रथम द्रष्टा आत्मा की शुद्धता को समझते हैं। 'आत्मा शुद्ध है' इसका अभिप्राय है कि उसमें चित्त के समान सत्त्व आदि गुणों का कोई परिणाम नहीं होता। वह अपरिणामी है अर्थात् निर्विकार है अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन घटित नहीं होता है। द्रष्टा स्वरूपतः शुद्ध अर्थात् परिणमनरहित अर्थात् सर्वदा एकरस रहता हुआ ही चित्त की वृत्तियों को जानता है। 'द्रष्टा शुद्धः अपि प्रत्ययानुपश्यः अस्ति' इस वाक्यावली को यदि बिल्कुल ही सटीक शब्दों में कहना चाहें तो कहना चाहिये–'द्रष्टा चित्तवृत्तीनां साक्षिमात्रः अस्ति' अर्थात् द्रष्टा आत्मा चित्त की वृत्तियों का साक्षीमात्र है।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥21॥

शब्दार्थ– [तदर्थः एव] उस द्रष्टा के लिये ही है, [दृश्यस्य आत्मा] दृश्य का अस्तित्व।

सूत्रार्थ– उस द्रष्टारूप आत्मा के भोग व अपवर्ग को सिद्ध करने के लिए ही दृश्यरूप जगत् का अस्तित्व है।

भावार्थ– सूत्र का तात्पर्य यह है कि दृश्य रूप में परिणमित प्रकृति इसी द्रष्टा रूप आत्मा के भोग-अपवर्ग को निष्पन्न करने के लिए है। वैसे यह बात दृश्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए 'भोगापवर्गार्थम्' शब्द के द्वारा भी कह दी गयी है, लेकिन वहाँ पूरी तरह यह यह स्पष्ट नहीं हो पाया था कि किसके भोग-अपवर्ग की सिद्धि के लिए? तथ्य को पूरी तरह से स्पष्ट करने के लिए इस सूत्र में पूर्ण स्पष्टता से वह बात कह दी है।

जिज्ञासा– दृश्य के द्वारा पुरुष के भोगापवर्ग को सिद्ध कर देने पर क्या निष्प्रयोजन हुआ दृश्य तब प्रलय को प्राप्त हो जाता है?

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥22॥

शब्दार्थ– [कृतार्थम् प्रति] कृतार्थ आत्मा के लिये [नष्टम् अपि] नष्ट-सा हुआ भी दृश्य [अनष्टम्] नष्ट नहीं होता [तदन्यसाधारणत्वात्] उस कृतार्थ पुरुष से अन्य पुरुषों के लिये

साधारण स्थिति बने रहने से।

सूत्रार्थ— कृतार्थ आत्मा के लिये नष्ट-सा हुआ भी यह दृश्यरूप जगत् नष्ट नहीं होता क्योंकि उस कृतार्थ पुरुष से भिन्न अन्य पुरुषों के लिये अपवर्ग की असिद्धिरूप साधारण स्थिति बनी रहती है।

भावार्थ— जो आत्मा कृतार्थ हो अर्थात् जन्म-जन्मान्तरों में विविध भोगों को प्राप्त कर पूर्ण प्रयास के साथ साधना करके जिसने योगसाधनों का अनुष्ठान करके आत्म-साक्षात्कार कर लिया एवं देहपात के अनन्तर अपवर्ग पा लिया है, उसके भोग और अपवर्ग दोनों सिद्ध हो गये। उसके लिये दृश्य का अब कोई उपयोग न रहा। अतः उसके लिए दृश्य नष्ट-जैसा हो गया। यद्यपि प्रकृति अथवा दृश्य का सर्वथा नाश कभी नहीं होता, परन्तु अपवर्ग प्राप्त आत्माओं के लिए उसका कोई उपयोग न रहने के कारण उनके लिये नष्ट के समान समझ लिया जाता है। व्यवस्थानुसार समस्त आत्मा एक साथ अपवर्ग प्राप्त नहीं कर पाते इसलिए अन्य आत्मा जो अविवेक की अवस्था में विद्यमान रहते हैं, उनके भोग-अपवर्ग को सिद्ध करने के लिए 'दृश्य' बना ही रहता है।

जिज्ञासा— 'संयोग' का क्या स्वरूप है ?

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥23॥

शब्दार्थ— [स्वस्वामिशक्त्योः] स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के [स्वरूपोपलब्धिहेतुः] स्व-स्व रूपों की उपलब्धि का हेतु [संयोगः] संयोग कहलाता है।

सूत्रार्थ— स्वशक्ति प्रकृति और स्वामिशक्ति आत्मा के स्व-स्व रूपों की उपलब्धि का हेतु 'संयोग' कहलाता है।

भावार्थ— इस सूत्र में प्रकृति-पुरुष के संयोग के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। 'संयोग' शब्द का अभिप्राय होता है—'दो या दो से अधिक पदार्थों का परस्पर साहचर्य', जिससे कि आबाल-वृद्ध सभी परिचित हैं। ऐसी दशा में शंकाएँ उठती हैं कि— संयोग के अर्थ के सर्वविगत होने पर भी इस सूत्र में 'संयोग' का स्वरूप क्यों स्पष्ट किया गया है ? क्या 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः' सूत्र में 'संयोग' शब्द किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त है, जिसको स्पष्ट करना यहाँ अपेक्षित है ? इत्यादि। ये सभी शंकाएँ ऐसी परिस्थिति में सहज हैं। 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः' सूत्र में 'संयोग' शब्द इसी लोकविश्रुत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु फिर भी वह कुछ विशेष है। 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः' सूत्र में प्रकृति-पुरुष के परस्पर साहचर्य को दुःख का कारण

बताया गया है। यहाँ यदि हम थोड़ा गहनता से विचार करें तो पायेंगे कि प्रकृति-पुरुष का साहचर्य तो मुक्त अवस्था में भी बना रहता है, फिर परस्पर साहचर्य कैसे दुःख का कारण हो सकता है? और यदि परस्पर साहचर्य ही दुःख का कारण है, तो दुःख के हेतु पारस्परिक साहचर्य का क्या विशेष स्वरूप है? द्रष्टा-दृश्य का सामान्य संयोग दुःख का हेतु नहीं है क्योंकि सामान्य संयोग तो सर्गावस्था, प्रलयावस्था और मोक्षावस्था तीनों अवस्थाओं में समान ही है। अब साधक दुःख के हेतु 'संयोग' विशेष को समझ लें– 'संयोग' कोई द्रव्यात्मक चीज नहीं है, बल्कि वह एक अवस्था का नाम है। वह अवस्था जिसमें दृश्य प्रकृति 'स्व' बनी हुई है तथा द्रष्टा आत्मा 'स्वामी' बना हुआ है। इस अवस्था में न प्रकृति स्व-स्वरूपस्थ है और न ही पुरुष स्व स्वरूपस्थ है। यह अवस्था ही दुःख का कारण है तथा इस अवस्था में होने की वजह से ही प्रकृति-पुरुष को स्व-स्व स्वरूपों की उपलब्धि होती है। प्रश्न उठता है कि इस संयोग का क्या कारण है? इसका समाधान अगले सूत्र में स्पष्ट किया गया है।

जिज्ञासा– द्रष्टा-दृश्य के संयोग का क्या कारण है?

तस्य हेतुरविद्या ॥24॥

शब्दार्थ– [तस्य] उस द्रष्टा-दृश्य के संयोग का [हेतुः] कारण [अविद्या] अविद्या है।

सूत्रार्थ– द्रष्टा-दृश्य के संयोग का कारण अविद्या है।

भावार्थ– 'द्रष्टा-दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः' सूत्र में द्रष्टा-दृश्य के संयोग को दुःख का कारण बताया गया है। इस सूत्र में द्रष्टा 'आत्मा' व दृश्य 'प्रकृति' के पारस्परिक संयोग का कारण 'अविद्या' बताया है। 'अविद्या' का क्या स्वरूप है? यह भी 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' सूत्र में स्पष्ट किया जा चुका है। अविद्या के स्वरूप को यदि हम संक्षेप में कहना चाहें, तो कह सकते हैं 'मिथ्या-अहसास' या 'अयथार्थबोध' अविद्या है। आत्मा और चित्त दो अलग-2 सत्तावान् द्रव्य हैं, लेकिन आत्मा को चित्त के साथ एकीभूतता का अहसास होता है, उसे अपने और चित्त के मध्य किसी प्रकार की पृथक्ता अनुभव नहीं होती। चित्त के साथ एकीभूतता का यह अहसास ही 'अविद्या' है और यह ही दुःख के कारण 'संयोग' का कारण है।

जिज्ञासा– दुःख का कारणभूत 'द्रष्टा-दृश्य का संयोग' कैसे विघटित होगा?

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥25॥

शब्दार्थ– [तदभावात्] उस अविद्या का अभाव होने से [संयोगाभावः] संयोग का अभाव होना [हानम्] हान है, [तत्] वह हान ही [दृशेः] चेतनस्वरूप आत्मा का [कैवल्यम्] कैवल्य है।

सूत्रार्थ– अविद्या का अभाव हो जाने पर दुख के कारण 'द्रष्टा-दृश्य के संयोग' का अभाव हो जाता है। संयोगाभाव की वह अवस्था 'हान' कहलाती है तथा वह हान ही चेतनस्वरूप आत्मा का 'कैवल्य' कहलाती है।

भावार्थ– सूत्र का भाव बिल्कुल सरल है, स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक यह प्रश्न है कि संयोग का अभाव कैसे घटित होगा? उसका क्या उपाय है? तो इसका उत्तर अग्रिम सूत्र में दिया गया है।

जिज्ञासा– कैवल्य को प्राप्त करने का क्या उपाय है?

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥26॥

शब्दार्थ– [विवेकख्यातिः] विवेकख्याति, जो कि [अविप्लवा] अस्थिरता दोष से रहित हो, [हानोपायः] कैवल्य को प्राप्त करने का उपाय है।

सूत्रार्थ– अस्थिरता दोष से रहित विवेकख्याति, कैवल्य को प्राप्त करने का उपाय है।

भावार्थ– आत्मतत्त्व व चित्त आदि प्रकृति तत्त्वों की परस्पर पृथक्ता की अनुभूति 'विवेकख्याति' कहलाती है। इसे ही 'विवेकज्ञान' भी कहते हैं। योग-साधनों का सतत अभ्यास करने से साधक को पहले ध्यानावस्था में स्वयं व मन के मध्य पृथक्ता का अहसास होता है, जो कि धीरे-धीरे बाद में व्यवहार-काल में भी बना रहता है। यदि साधक मध्य में योग-साधनों का अभ्यास करना छोड देता है, तो यह अनुभूति धीरे-धीरे बन्द हो जाती है। परन्तु यदि साधक धारणा-ध्यान आदि योग-साधनों का सतत अभ्यास करता रहता है, तो आत्मा व चित्त आदि प्रकृति-तत्त्वों के पार्थक्य की यह अनुभूति निरन्तर बढ़ती जाती है तथा अन्ततः आत्मा प्रकृति के तत्वों से विरक्त होकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही हान या कैवल्य की अवस्था है। इस प्रकार कह सकते हैं कि सतत बनी रहने वाली विवेकख्याति रूप अनुभूति कैवल्य-अवस्था की प्राप्ति का उपाय है।

जिज्ञासा— जिस योगी ने विवेकज्ञान को प्राप्त कर लिया है, उसकी प्रज्ञा किस प्रकार की हो जाती है ?

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥27॥

शब्दार्थ— [तस्य] उस विवेकज्ञान को उपलब्ध होते हुए योगी की क्रमशः [सप्तधा] सात प्रकार की [प्रान्तभूमिः] प्रकृष्ट अवस्थाओं वाली [प्रज्ञा] बुद्धि बनती है।

सूत्रार्थ— उस विवेकज्ञान को उपलब्ध होते हुए योगी की क्रमशः सात प्रकार की प्रकृष्ट अवस्थाओं वाली बुद्धि बनती है।

भावार्थ— पूर्वसूत्र में 'विवेकख्याति' को कैवल्य का उपाय बताया गया है। विवेकख्याति एक प्रकार का आन्तरिक अनुभव है। ध्यानावस्था में जब आत्मा स्वयं को तथा चित्त को पृथक्-पृथक् अनुभव करता है, यह आन्तरिक अनुभव ही दार्शनिक भाषा में 'विवेकख्याति' या 'विवेकज्ञान' कहलाता है। विवेकज्ञान रूप यह अनुभूति पूर्णता से प्राप्त होने से पहले साधक को सात प्रकार की प्रगाढ़ आन्तरिक अनुभूतियाँ होती हैं। इन सात प्रकार की प्रगाढ़ आन्तरिक अनुभूतियों को ही यहाँ 'प्रान्तभूमिः प्रज्ञा' कहा गया है। शास्त्रों में ये अनुभूतियाँ निम्न प्रकार लिखी मिलती हैं—

१. "परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति" अर्थात् जो कुछ हेय था, वह जान लिया है, अब कुछ जानना शेष नहीं रहा अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है, वह सब परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, संस्कार-दुःख तथा गुणों की वृत्तियों में पारस्परिक विरोध होने से दुःखरूप ही है इसलिये 'हेय' अर्थात् त्याज्य है, यह मैंने जान लिया है।
२. "क्षीणाः हेयहेतवो न पुनरेतेषां हातव्यमस्ति" अर्थात् जो दूर करना था अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का संयोग जो हेयहेतु है, वह दूर कर दिया। अब कुछ दूर करने योग्य नहीं रहा।
३. "साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम्" अर्थात् निरोधसमाधि के द्वारा 'कैवल्य' को साक्षात् कर लिया [अर्थात् जो साक्षात् करना था, वह साक्षात् कर लिया, अब कुछ साक्षात् करने के लिए शेष नहीं रहा]।
४. "भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः" अर्थात् कैवल्य की उपायरूपा विवेकख्याति को सम्पादित कर लिया अर्थात् जो कुछ सम्पादन करने योग्य था, वह सम्पादन कर लिया, अब सम्पादन करने योग्य कुछ नही रहा।
५. "चरिताधिकारा बुद्धिः" अर्थात् चित्त ने भोग-अपवर्ग देने का अपना प्रयोजन पूरा कर लिया है, अब उसका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा।

६. "गुणाः गिरिशिखरकूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थायाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति। न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति" अर्थात् जिस प्रकार पर्वत की चोटी से गिरे हुए पत्थर बिना रुके हुए पृथ्वी पर आकर चूर-चूर हो जाते हैं, इसी प्रकार चित्त के बनाने वाले गुण अपने कारण में लय होने के अभिमुख जा रहे हैं क्योंकि अब इनका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा।

७. "एतस्यामवस्थायां गुणसंबन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति" अर्थात् गुणों के संबन्ध से परे होकर पुरुष की परमात्मस्वरूप में स्थिति हो रही है, अब कुछ शेष नहीं रहा।

जिज्ञासा– कैवल्यावस्था की उपायरूपा यह विवेकख्याति साधक को किन साधनों के द्वारा प्राप्त होती है?

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥28॥

शब्दार्थ– [योगाङ्गानुष्ठानात्] योग के अङ्गों का पालन करने से [अशुद्धिक्षये] अशुद्धि का नाश होते जाने से [ज्ञानदीप्तिः] ज्ञान का प्रकाश [आ-विवेकख्यातेः] विवेकख्याति की अवस्था पर्यन्त होता जाता है।

सूत्रार्थ– मनसा-वाचा-कर्मणा योग के अङ्गों का पालन करने से अविद्या-अस्मिता आदि पञ्च क्लेशरूप अशुद्धि का नाश होते जाने से, ज्ञान का प्रकाश पूर्ण विवेकख्याति की अवस्था पर्यन्त बढ़ता जाता है।

भावार्थ– हम अपने व्यवहारिक जीवन में अधिकांशतया या तो रजोगुण प्रधान रहते हैं या फिर तमोगुण प्रधान रहते हैं। यहाँ तक कि अपने ध्यानकाल में भी हम इस रजोगुण व तमोगुण के दुश्चक्र से निकल नहीं पाते हैं। रजोगुण का धर्म क्रियाशीलता है तथा तमोगुण का धर्म मूढ़ता या आलस्यता है। सत्व गुण का धर्म प्रकाश है, जिसके माध्यम से जानना घटित होता है। जब चित्त में सत्व गुण अपने प्रकर्ष पर होता है, तब ही हमें यथार्थ-बोध होता है। उस यथार्थ-बोध के होने में रजोगुण की अति क्रियाशीलता तथा तमोगुण की अति अलसावस्था बाधारूप है, दोषरूप हैं, अशुद्धि रूप है। आत्मा व चित्त आदि प्रकृति के तत्वों की पृथक्ता का अहसास भी एक प्रकार का यथार्थ बोध है। ध्यानकाल में भी चित्त में रजोगुण व तमोगुण की प्रधानता बने रहने से हमें स्वयं व मन की पृथक्ता का अहसास नहीं होता। योग के यम-नियम आदि अङ्गों का अनुष्ठान करने से हमारे चित्त में वर्तमान रजोगुण की अति क्रियाशीलता रूप व

तमोगुण की मूढ़ता-अलसता रूप अशुद्धि का क्षय होने लगता है तथा उसके साथ-साथ सत्त्व गुण की प्रधानता होकर, उसका प्रकाश आविर्भूत होने लगता है, जिसमें हम स्वयं व मन की पृथक्ता का हल्का-हल्का अनुभव करने लगते हैं। सत्त्व गुण का यह प्रकाश, आत्मा व प्रकृति की पृथक्ता की पूर्णतया स्पष्टानुभूति रूप विवेकख्याति की अवस्था आने तक बढ़ता ही जाता है।

जिज्ञासा– योग के वे अङ्ग कौन-कौन से हैं?

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥29॥

शब्दार्थ– [यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयः] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये [अष्टौ] आठ [अङ्गानि] अङ्ग हैं, योग के।

सूत्रार्थ– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, योग के आठ अङ्ग हैं।

भावार्थ– यम, नियम आदि आठों शब्द योगदर्शन के पारिभाषिक शब्द है। इनके अर्थों को आगामी सूत्रों में यथाक्रम स्पष्ट किया जायेगा।

जिज्ञासा– योगाङ्ग 'यम' का क्या स्वरूप है?

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥30॥

शब्दार्थ– [अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह [यमाः] 'यम' कहलाते हैं।

सूत्रार्थ– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को 'यम' कहते हैं।

भावार्थ– 'यम' योग सम्बन्धी शास्त्रों का एक पारिभाषिक शब्द है, जो कि अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह के लिये सामूहिकरूप से प्रयुक्त होता है। इन अहिंसा-सत्य आदि शब्दों के भाव को नीचे क्रमशः स्पष्ट किया जाता है–

1. **अहिंसा**– शरीर, वाणी व मन से सब कालों में समस्त प्राणियों के प्रति अप्रीति का भाव छोडकर प्रेमपूर्वक व्यवहार करना 'अहिंसा' कहाता है।
2. **सत्य**– जैसा देखा, सुना, पढा या अनुमान किया हुआ ज्ञान मन में है, वैसा ही वाणी से बोलना, हाथ से लिखना तथा शरीर की अन्य चेष्टाओं से प्रकट करना 'सत्य' कहाता है।
3. **अस्तेय**– वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना किसी वस्तु को न तो शरीर से लेना, न लेने के लिए किसी को वाणी से कहना और न ही मन में लेने की इच्छा करना 'अस्तेय' कहाता है।

4. **ब्रह्मचर्य**— मन तथा नेत्र-श्रोत्र आदि इन्द्रियों पर संयम करके वीर्य रूप जैविक ऊर्जा की रक्षा करना, ऋषिकृत सत्य शास्त्रों का अध्ययन करना तथा आत्मस्थ पुरुष के तुल्य व्यवहार करना 'ब्रह्मचर्य' कहाता है।
5. **अपरिग्रह**— हानिकारक एवं अनावश्यक वस्तुओं का शारीरिक स्तर पर तथा हानिकारक एवं अनावश्यक विचारों का मानसिक स्तर पर संग्रह न करना 'अपरिग्रह' कहलाता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जिन वस्तुओं के हम आत्यन्तिक मालिक नहीं है और न ही मालिक हो सकते हों, उन वस्तुओं के ऊपर मालकियत के भाव का परित्याग कर देना 'अपरिग्रह' कहलाता है।

जिज्ञासा— क्या अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप व्रतों में देश-काल-परिस्थिति आदि के अनुसार कुछ समायोजन किया जा सकता है? इसका उत्तर है— नहीं, क्योंकि ये व्रत तो...

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥31॥

शब्दार्थ— [जाति-देश-काल-समय-अनवच्छिन्नाः] जाति, देश, काल और नियमविशेष से अबाधित, [सार्वभौमाः] सब अवस्थाओं में अनुष्ठान किये जाने वाले [महाव्रतम्] महाव्रतरूप हैं, ये यम।

सूत्रार्थ— अहिंसा, सत्य आदि पाँचों यम जाति, देश, काल और नियमविशेष से अबाधित, सभी अवस्थाओं में पालन किये जाने वाले महाव्रतरूप हैं।

भावार्थ— साधना में सफलता के इच्छुक साधकों को इस सूत्र के भाव को अच्छी तरह हृदयङ्गम कर लेना चाहिये कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह सार्वभौम महाव्रत है। उन्हें इनका पालन जाति, देश, काल और नियमविशेष की पाबन्दी से असंकुचित रखते हुए करना है। जाति, देश आदि के द्वारा संकुचन का स्वरूप नीचे उदाहरणसहित स्पष्ट किया जाता है—

१. **जाति द्वारा संकुचन**— यहाँ जाति का अर्थ है—'वर्गविशेष'। इस प्रकार 'यमों का जाति द्वारा संकुचन' का अर्थ हुआ— 'वर्गविशेष को विषय बनाकर अहिंसा आदि के पालन में किया गया संकुचन'। यथा—अहिंसा के पालन में कोई व्यक्ति निश्चय करे कि गौ के प्रति हिंसा न करुँगा, संन्यासियों के प्रति हिंसा न करुँगा इत्यादि। इसी प्रकार सत्य आदि के संबन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

२. देश द्वारा संकुचन— यहाँ देश का अर्थ है—'स्थानविशेष'। इस प्रकार 'यमों का देश द्वारा संकुचन' का अर्थ हुआ— 'स्थानविशेष को विषय बनाकर अहिंसा आदि के पालन में किया गया संकुचन'। यथा—अहिंसा के पालन में कोई व्यक्ति निश्चय करे कि मन्दिर में हिंसा न करुँगा, तीर्थस्थान में हिंसा न करुँगा इत्यादि। इसी प्रकार सत्य आदि के संबन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

३. काल द्वारा संकुचन— यहाँ काल का अर्थ है—'समयविशेष'। इस प्रकार 'यमों का काल द्वारा संकुचन' का अर्थ हुआ— 'समयविशेष को विषय बनाकर अहिंसा आदि के पालन में किया गया संकुचन'। यथा—अहिंसा के पालन में कोई व्यक्ति निश्चय करे कि महात्मा गाँधी जी के जन्म दिवस 2 अक्टूबर को हिंसा न करुँगा, पशु-संरक्षण सप्ताह में हिंसा न करुँगा इत्यादि। इसी प्रकार सत्य आदि के संबन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

४. समय द्वारा संकुचन— यहाँ समय का अर्थ है—'नियमविशेष'। इस प्रकार 'यमों का समय द्वारा संकुचन' का अर्थ हुआ— 'नियमविशेष को विषय बनाकर अहिंसा आदि के पालन में किया गया संकुचन'। यथा—ब्रह्मचर्य के पालन में कोई व्यक्ति निश्चय करे कि स्त्री के ऋतुकाल से भिन्नकाल में ब्रह्मचर्य का पालन करुँगा इत्यादि। इसी प्रकार अहिंसा आदि के संबन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

यहाँ दो शब्द अपनी ओर से और कहना चाहूँगा कि उपरोक्त विवरण से किसी को यह अभिप्राय नहीं निकालना चाहिये कि अहिंसा, सत्य आदि का आंशिक रूप में पालन करने से कोई लाभ नही है इसलिये यदि अहिंसा आदि का पालन करना है, तो पूरी तरह से करो, नहीं तो जैसा चल रहा है, वैसा चलने दो। वस्तुतः उपरोक्त बात शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति चाहने वाले व्यक्ति को दृष्टि में रखते हुए कही गयी है। यह सच है कि मुक्ति चाहने वाले को तो अहिंसा आदि व्रतों का सर्वथा पालन करना ही होगा। इसके साथ-साथ यह भी सच है कि अहिंसा आदि व्रतों का आंशिक रूप में पालन करने से भी हमारा अन्तःकरण शुद्ध होगा तथा उसी अनुपात में हमारा जीवन भी शान्ति-समृद्धि से युक्त होगा।

जिज्ञासा— योगाङ्ग 'नियम' का क्या स्वरूप है?

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥32॥

शब्दार्थ— [शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान [नियमाः] नियम कहलाते हैं।

सूत्रार्थ— शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान 'नियम' कहलाते हैं।

भावार्थ– 'नियम' शब्द भी 'यम' की भाँति ही योग सम्बन्धी शास्त्रों का एक पारिभाषिक शब्द है, जो कि शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान के लिये सामूहिक रूप से प्रयुक्त होता है। इन शौच-सन्तोष आदि शब्दों के भाव को नीचे क्रमशः स्पष्ट किया जाता है–

1. **शौच**– शौच 'शुद्धि' को कहते हैं, जो कि दो प्रकार की होती है– बाह्य शुद्धि तथा आन्तरिक शुद्धि। शरीर, वस्त्र, खानपान तथा वस्त्र आदि को पवित्र रखना 'बाह्य शुद्धि' कहलाती है तथा सुविद्या, सत्संग, स्वाध्याय तथा सत्याचरण आदि के द्वारा अपने अन्तःकरण को शान्त-निर्मल-पवित्र रखना आन्तरिक शुद्धि' कहलाती है।

2. **सन्तोष**– अपने पास विद्यमान साधनों के द्वारा पूर्ण पुरुषार्थ करने के बाद, जो भी परिणाम प्राप्त हो, उसे बिना किसी शिकायत भाव के प्रेमपूर्वक स्वीकार कर लेना, 'सन्तोष' कहलाता है।

3. **तप**– सत्य के मार्ग पर चलते हुए परिस्थितिवश उपस्थित होने वाले सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, मान-अपमान, हार-जीत आदि के द्वन्द्वात्मक प्रसङ्गों को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार भाव से सहन करना 'तप' कहलाता है।

4. **स्वाध्याय**– आत्मोन्नति में सहायक साहित्य का अध्ययन करना, प्रतिदिन स्वयं का आत्मनिरीक्षण करना व पवित्र 'ओ३म्' आदि ध्वनियों का श्रद्धापूर्वक जप करना 'स्वाध्याय' कहलाता है।

5. **ईश्वर प्रणिधान**– अपने समस्त क्रिया-कलापों को अनन्य भक्ति के साथ परमपिता प्रभु को सर्वात्मना समर्पित कर देना, यहाँ तक कि उनके फल की भी चाह न करना 'ईश्वर-प्रणिधान' कहलाता है।

जिज्ञासा– यम और नियमों का पालन करना तो बड़ा कठिन है। जीवन में पदे-पदे हिंसा आदि में प्रवृत कराने वाले प्रसङ्ग बनते रहते हैं। ऐसी दशा में साधक को क्या करना चाहिये ?

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥33॥

शब्दार्थ– [वितर्कबाधने] वितर्कों के द्वारा बाधा डाले जाने पर [प्रतिपक्षभावनम्] प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिये।

सूत्रार्थ– वितर्कों के द्वारा यम-नियमों के पालन में बाधा पड़ने पर, प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिये।

जिज्ञासा— 'वितर्क' क्या हैं? तथा प्रतिपक्षभावना क्या है?

वितर्का हिंसादयः कृतकारिताऽनुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥34॥

शब्दार्थ— [वितर्काः] वितर्क [हिंसादयः] हिंसा आदि हैं, जो कि [कृत-कारित-अनुमोदिताः] स्वयं किये गये, अन्य से कराये गये और अनुमोदन किये गये होते है तथा [लोभक्रोधमोहपूर्वकाः]लोभ, क्रोध व मोहवश किये जाते हैं तथा [मृदु-मध्य-अधिमात्राः] मृदु, मध्य और तीव्रस्तर के होते हैं। ये हिंसा आदि वितर्क [दुःखज्ञानानन्तफलाः] अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञान के रूप में फल देने वाले हैं, [इति] इस प्रकार का चिन्तन-मनन करना [प्रतिपक्षभावनम्] प्रतिपक्षभावना कहलाता है।

सूत्रार्थ— हिंसा आदि वितर्क कहलाते हैं, जो कि स्वयमेव किये गये हों या अन्य से कराये गये या अनुमोदन किये गये हों। ये लोभ, क्रोध व मोहवश किये जाते हैं तथा मृदु, मध्य और तीव्रस्तर के होते हैं। ये हिंसा आदि वितर्क जीवात्मा को अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञान के रूप में फल देने वाले हैं, इस प्रकार चिन्तन-मनन करना प्रतिपक्षभावना कहलाता है।

भावार्थ— यम-नियम विरोधी तर्कों को वितर्क कहते हैं अर्थात् 1-हिंसा, 2-असत्य, 3-स्तेय, 4-ब्रह्मचर्यहीनता, 5-परिग्रह, 6-अशौच, 7-असंतोष, 8-तपश्चर्या से विमुखता, 9-स्वाध्याय से विमुखता तथा 10-ईश्वर से विमुखता ये दस 'वितर्क' हैं। जीवन सुघटनाओं व दुर्घटनाओं से परिपूर्ण है इसलिये जब किसी दुर्घटनावश साधक के मन में ये हिंसा आदि के वितर्क उत्पन्न होवें तो उसे इनके विरोधी विचारों का चिन्तन करके, इनको मन से हटाना चाहिये। जैसे हिंसा करने का विचार उत्पन्न होने पर उसे दया का चिन्तन करना चाहिये तथा विचारना चाहिये कि संसार की काम-क्रोधरूपी पंचाग्नि से संतप्त होकर, उससे बचने के लिए मैनें सब प्राणियों को अभयदान देकर योग के मार्ग की शरण ली है। अब यदि मैं इन छोटी-छोटी बाधाओं से ही उद्विग्न होकर पुनः उन्हीं हिंसा आदि अधर्मों का ग्रहण करता हूँ तो मेरा व्यवहार कुत्ते के ही सदृश है अर्थात् जैसे कुत्ता अपनी की गयी वमन को पुनः खा लेता है। मैं ऐसा नहीं करूँगा क्योंकि मैं प्रभु का अमृतपुत्र हूँ।

सूत्रभूमिका— इससे आगे के सूत्रों में अहिंसा आदि यम-नियमों के पालन से प्राप्त होने वाली क्षमताविशेषों की उपलब्धियों का वर्णन किया गया है। ये उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है, लेकिन ये प्राप्त उन्हीं साधकों को होती हैं, जो सम्पूर्ण अष्टाङ्ग योग का पालन करते हैं अर्थात् यम-नियमों के पालन के साथ-साथ आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा,

ध्यान व समाधि का भी अभ्यास करते हैं। इसके पीछे कारण यह है कि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि के प्रगाढ़ अभ्यास के द्वारा ही अहिंसा, सत्य आदि यम-नियमों की हमारे हृदय में पूर्ण प्रतिष्ठा हो पाती है। वस्तुतः अष्टाङ्ग योग के सभी अङ्ग-उपाङ्ग अन्योन्याश्रित हैं अर्थात् अहिंसा, सत्य आदि यम-नियमों के सतत पालन से आसन, प्राणायाम आदि के अभ्यास में प्रगाढ़ता आती है और आसन, प्राणायाम आदि के नियमित अभ्यास से अहिंसा, सत्य आदि की अन्तःकरण में प्रतिष्ठा प्रगाढ़ होती है। इस प्रकार सभी साधकों को समझ लेना चाहिये कि यम-नियम आदि सभी अष्टाङ्गों का साथ-साथ पालन करने पर ही अहिंसापरक परिणाम 'वैर-त्याग' निकलता है, सत्यपरक परिणाम 'क्रियाफलाश्रयत्व' निकलता है तथा अस्तेयपरक परिणाम 'सर्वरत्नोपस्थानत्व' निकलता है आदि-आदि।

जिज्ञासा– मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का पालन करने से साधक के अन्तःकरण में क्या विशेषता पैदा हो जाती है?

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥35॥

शब्दार्थ– [अहिंसाप्रतिष्ठायाम्] अहिंसा के भाव के चित्त में पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो जाने पर, [तत्सन्निधौ] उस योगी के सान्निध्य में [वैरत्यागः] प्राणियों का परस्पर का वैरभाव छूट जाता है।

सूत्रार्थ– अहिंसा के भाव के चित्त में पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो जाने पर, उस योगी के सानिध्य में प्राणियों का परस्पर का वैरभाव छूट जाता है।

भावार्थ– इस सूत्र का अर्थ विद्वज्जनों में विवाद का विषय रहा है। कुछ का मन्तव्य है कि–'पूर्ण योगी के सान्निध्य में समस्त प्राणियों का वैरभाव छूट जाता है' तथा कुछ का मानना है कि–'समस्त प्राणियों का नहीं छूटता, केवल मनुष्यों का छूटता है और मनुष्यों में भी सभी का नहीं छूटता। मनुष्यों में भी उन्हीं का छूटता है, जो योगी के प्रति श्रद्धाभाव रखते हैं तथा उसके उपदेशों को जीवन-चर्या में उतार लेते हैं।' तर्क की दृष्टि से दूसरा मन्तव्य सत्य प्रतीत होता है। लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि यदि इस सूत्र का अभिप्राय इस प्रकार का तथा इतना-सा हो, तो यह बात नैतिक शिक्षा के स्तर की हो गयी और इतनी सीधी-सरल सी बात को अहिंसा की सिद्धिपरक उपलब्धि बताना, अहिंसा पालन की उपलब्धि को बढ़ा-चढ़ा कर कहना होगा। इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि प्रथम मन्तव्य वाले विद्वान् बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। उनकी वास्तविकता यह है कि वे ऋषि-मुनियों के प्रति अन्धश्रद्धा के वशीभूत होकर, मूढ़तावश ऐसा कह रहे हैं। वस्तुतः वस्तुस्थिति इस प्रकार की है कि पूर्ण योगी के सान्निध्य में समस्त प्राणियों

का ही वैरभाव छूट जाता है। सदैव के लिए छूट जाता हो, ऐसा नहीं है। योगी के साथ सन्निधि के काल में ही छूटता है। द्वितीय यह भी है कि वैर की प्रगाढ़ता-अप्रगाढ़ता के अनुपात में न्यूनाधिक सन्निधि की अपेक्षा होगी। यह भी विशेष है कि मनुष्यों की अपेक्षा निःसर्ग के सम्पर्क में रहने वाले प्राणियों का वैरभाव शीघ्रता से छूटेगा, लेकिन न्यूनाधिक सन्निधि की अपेक्षा वहाँ भी होगी। जहाँ तक पञ्चतन्त्र में उल्लिखित 'व्याकरणकर्तारम्.....' श्लोक के वक्तव्य के निराकरण का प्रश्न है, तो इसके विषय में निराकरण यह है कि वह सब यकायक हुआ, वहाँ अपेक्षित सन्निधि हुई ही नहीं।

जिज्ञासा— मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य का पालन करने से साधक की वाणी में क्या विशेषता पैदा हो जाती है?

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥36॥

शब्दार्थ— [सत्यप्रतिष्ठायाम्] सत्य के भाव के चित्त में पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो जाने पर [क्रियाफलाश्रयत्वम्] क्रिया के फल का आश्रय योगी की वाणी में हो जाता है।

सूत्रार्थ— सत्य के भाव के चित्त में पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो जाने पर, योगी की वाणी में क्रिया के फल का आश्रय हो जाता है अर्थात् योगी की वाणी से जो भी बात निकल जाती है, वह सत्य होकर रहती है।

भावार्थ— मेरा ऐसा मानना है कि तर्क के द्वारा एक सीमा तक ही सत्य का अन्वेषण किया जा सकता है क्योंकि तर्क ज्ञात ज्ञान-विज्ञान के आधार पर ही दिये जाते हैं और इस सृष्टि के रूप में फैले हुए प्रकृति के इस विस्तार के विषय में सब-कुछ अभी जान नहीं लिया गया है इसलिये तर्क मात्र के आधार पर यह तो बिल्कुल भी नहीं कहा जा सकता कि प्रकृत सूत्र के शब्दों से निःसरित होने वाला यह अर्थ कि 'चित्त में सत्य-प्रतिष्ठा हो जाने पर योगी की वाणी से निकली हुई बात सत्य होकर रहती है' गलत है। यहाँ पर इस प्रकार की आशंकाएँ व्यक्त करना कि यदि योगी यह कह दे कि आग ठण्डी हो जाय तो क्या आग ठण्डी हो जायेगी? बिल्कुल ही मूढ़तापूर्ण है। सत्य में प्रतिष्ठित वह एक योगी पुरुष होता है, कोई मूढ़ नहीं, जो इस प्रकार की बातों को सोचे और कहे।

द्वितीय यह भी ध्यातव्य है कि व्यास सदृश ऋषियों के भाष्यों को देखते हुए, यहाँ कुछ इस प्रकार का भाव प्रतीत होता है कि किसी व्यक्ति के प्रेम से अभिभूत होकर या किसी व्यक्ति की पीड़ा से करुणाभिभूत होकर या किसी व्यक्ति के द्वारा सतत किये जाते हुए अत्याचार के असहनीय हो जाने पर योगी के मुख से अनायास निकली हुई बात सत्य होकर रहती है। शास्त्रों

में वर्णित ऋषि-मुनियों के द्वारा प्रदत्त आशीर्वाद व शाप के बुद्धिसंगत वर्णन भी इस सूत्रार्थ के लिए साक्षी माने जा सकते हैं। इसके उपरान्त भी व्यक्तिगतरूप से धारणा बनाने में हम सभी स्वतन्त्र हैं।

जिज्ञासा– मनसा, वाचा, कर्मणा 'अस्तेय' का पालन करने से क्या तथ्य घटित होता है?

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥37॥

शब्दार्थ– [अस्तेयप्रतिष्ठायाम्] अस्तेय भाव के चित्त में पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो जाने पर [सर्वरत्नोपस्थानम्] समस्त उत्तम पदार्थों की प्राप्ति योगी को होने लगती है।

सूत्रार्थ– अस्तेय भाव के चित्त में पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी को समस्त उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होने लगती है।

भावार्थ– इस सूत्र के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कुछ महानुभावों ने सुझाया है कि योगी को सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है, जिससे वह गुप्त खजाने व धरती में गड़े धन को अपनी सिद्धि के बल से जान लेता है। इस प्रकार उसे सब रत्नों की प्राप्ति हो जाती है। वस्तुतः इस प्रकार का कुछ भी नहीं होता, क्योंकि योगी वही व्यक्ति बन सकता है, जिसकी गुप्त खजानों को पाने व गड़े धन को जानने की रुचि समाप्त हो गयी हो। 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' तथा 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' सूत्रों के द्वारा महर्षि पतञ्जलि ने योग में अभिरुचि रखने वाले व्यक्तियों को यही समझाने का प्रयास किया है। इस कारण योगदर्शन के सूत्रों का इस प्रकार का अर्थ करना थोड़ा मूढ़तापूर्ण-सा ही है।

वास्तविकता यह है कि योगनिष्ठ व्यक्ति का व्यक्तित्व इतना आकर्षक और साहचर्य इतना शान्तिदायक होता है कि जो भी उसके सम्पर्क में आता है, वह उसे प्रेमभाव से कुछ न कुछ समर्पित करना चाहता है। उसके उपरान्त यह योगी पुरुष की अपनी स्वतन्त्रता है कि वह उन्हें स्वीकार करे या अस्वीकार करे। स्वीकार कर लेने पर योगी का योगत्व तिरोहित नहीं होता और अस्वीकार कर देने पर कुछ विशिष्टता पैदा नहीं होती। जो स्वीकार कर लेते हैं, वे ऐश्वर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करते प्रतीत होते हैं और जो स्वीकार नहीं करते, वे थोड़ा विपन्नता में जीवन गुजारते दीख पड़ते हैं। लेकिन इतना दोनों के विषय में समान होता है कि सर्वरत्नोपस्थान का प्रसंग दोनों के जीवन में बार-बार आता है। इसके साथ-साथ यह भी बताना चाहूँगा कि अन्तःकरण की दृष्टि से दोनों समान रूप से समृद्ध होते हैं। यह सम्पन्नता और विपन्नता तो बाहरी होती है और सांसारिक लोगों की दृष्टि में ही कुछ महत्त्व रखती है। शास्त्रों में समान आदरपूर्वक दोनों प्रकार के महापुरुषों का वर्णन मिलता है इसलिये हमें इन बाह्य चीजों

के आधार पर किसी महापुरुष को किसी महापुरुष से छोटा बड़ा नहीं ठहराना चाहिये।

जिज्ञासा— मनसा, वाचा, कर्मणा 'ब्रह्मचर्य' का पालन करने से साधक के अन्तःकरण में क्या विशेषता पैदा हो जाती है ?

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥38॥

शब्दार्थ— [ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम्] ब्रह्मचर्य के भाव के चित्त में पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो जाने पर [वीर्यलाभः] एक विशेष प्रकार की तेजस्विता की प्राप्ति होती है, साधक को।

सूत्रार्थ— ब्रह्मचर्य-भाव के चित्त में पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो जाने पर, साधक को चुम्बकीय-आकर्षण से युक्त तेजस्विता की प्राप्ति होती है।

भावार्थ— जब मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक स्तर पर काम-क्रीड़ा में उतरने की इच्छा चित्त से पूरी तरह तिरोहित हो जाये, विपरीत लिङ्ग वाले के व्यक्ति के न तो साहचर्य में जाने की इच्छा हो और न ही साहचर्य से भागने की इच्छा हो अर्थात् स्त्री-पुरुष का लिङ्गात्मक बौद्ध-भेद तिरोहित-सा हो जाये, तब साधक को समझना चाहिये कि ब्रह्मचर्य-भाव चित्त में पूरी तरह प्रतिष्ठित हो गया है।

साधकों के हितार्थ बिल्कुल स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इतना सब ब्रह्मचर्य के नियमों को किसी किताब में पढ़ लेने से, ब्रह्मचर्य के महत्व को विस्तार से समझ लेने से, तत्सम्बन्धी विचारों को बार-बार दोहराने से तथा विपरीत लिङ्ग वाले व्यक्ति के दर्शन, स्पर्शन आदि से पृथक् रहने मात्र से घटित नहीं होता है। इतना सब करते हुए, जो साधक एकनिष्ठ होकर प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि का प्रगाढ़ अभ्यास करता है, उसी के अन्दर से कामेच्छा तिरोहित होती है अन्यथा व्यक्ति काम-आकांक्षाओं की दृष्टि से वहीं खड़ा रहता है, एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता और कुछ साधक तो असफलता व अनुपलब्धि से इतने निराश हो जाते हैं कि साधना को छोड़-छाड़कर प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में एक महाकामुक सांसारिक व्यक्ति की भाँति जीवन जीने लगते हैं।

ऊपर वर्णित ब्रह्मचर्य का भाव साधक के चित्त में जैसे-जैसे प्रतिष्ठित होता जाता है, वैसे-वैसे चुम्बकीय आकर्षण से युक्त एक प्रकार की तेजस्विता साधक के अन्दर आविर्भूत होती जाती है, जिससे उसके अन्दर एक प्रकार की बौद्ध-अभयता उत्पन्न होती है तथा ऐसी चित्तात्मक सामर्थ्य पैदा होती है कि वह स्वशिष्यों में संकल्पबल से ज्ञान का आधान कर सकता है। ऊपर किया गया ब्रह्मचर्यपरक समस्त वर्णन स्त्री-पुरुषों पर समान रूप से लागू होता है,

यह भी स्मरण रखना चाहिये।

जिज्ञासा— मनसा, वाचा, कर्मणा अपरिग्रह का पालन करने से क्या घटित होता है ?

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।।39।।

शब्दार्थ— [अपरिग्रहस्थैर्ये] अपरिग्रह के भाव के चित्त में पूरी तरह से स्थिर हो जाने पर [जन्मकथन्ता-संबोधः] जन्म-विषयक कैसे ? कहाँ से ? इत्यादि का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

सूत्रार्थ— अपरिग्रह के भाव के चित्त में पूरी तरह से स्थिर हो जाने पर, साधक को अपने जन्म सम्बन्धी क्यों... ? कहाँ से... ? इत्यादि प्रश्नों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ— यदि हम अपनी जीवन-चर्या पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तथा सूक्ष्मता से दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि हमारी अन्तश्चेतना बहुत ही क्षुद्र कोटि की वस्तुओं व व्यवस्थाओं में उलझी हुई है। हम येन-केन प्रकारेण अधिक से अधिक धन के, अधिक से अधिक वस्तुओं के, अधिक से अधिक व्यक्तियों के, अधिक से अधिक व्यवस्थाओं के, अधिक से अधिक जानकारियों के और अधिक से अधिक मान-सम्मान के मालिक होने के लिए प्रयासरत हैं। धन, व्यक्ति, वस्तु, विचार आदि के परिग्रह की हमारी कोई सीमा नहीं है, हमारी माँग अधिक से अधिक की है। इतना ही नहीं हमने अपने मन को बहुत सारी अनावश्यक सूचनाओं से, अर्थहीन हो चुकी भूतकाल की स्मृतियों से तथा भविष्यत् की असम्बद्ध कल्पनाओं से भी भरा हुआ है। शरीर व मन के स्तर पर घटित हुए इस जटिल परिग्रह की आपा-धापी में स्वविषयक प्रश्न—मैं कौन हूँ... ? तथा अपने जन्म विषयक—क्यों... ? कैसे... ? कहाँ से... ? आदि प्रश्न हमारे मन में उठते ही नहीं हैं और यदि उठते हैं तो उनमें कोई गम्भीरता नहीं होती और यदि उनमें गम्भीरता हो भी, तो इस तरह की आकांक्षाओं से भरे मन के द्वारा इन प्रश्नों के उत्तरों को नहीं जाना जा सकता।

इस प्रकार शरीर व मन के स्तर पर घटित हुई यह परिग्रह की अवस्था स्वबोध और जन्मविषयक कथन्ता के बोध में बहुत बड़ी बाधा है। जब साधक भली-भाँति विचार करके शरीर व मन के स्तर पर पैदा हुई परिग्रह की मृग-मरीचिका से अपने आप को मुक्त कर लेता है, तो प्रायः करके स्वतः ही उसे जन्मविषयक कथन्ता का बोध होने लगता है।

जिज्ञासा— मनसा, वाचा, कर्मणा शौच का पालन करने से क्या घटित होता है ?

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥40॥

शब्दार्थ— [शौचात्] शुद्धिकरण का पालन करने से [परैरसंसर्गः] स्वशरीरावयवों के प्रति

सम्मोहाभाव बनाने की आकांक्षा तथा [परैः] अन्य व्यक्तियों के साथ [असंसर्गः] शारीरिक-सम्पर्क का अभाव घटित होता है।

सूत्रार्थ— शुद्धिकरण का मनसा, वाचा, कर्मणा पालन करने से स्व-शरीरावयवों के प्रति सम्मोहाभाव तथा अन्य व्यक्तियों के साथ शारीरिक सम्पर्क बनाने की आकांक्षा का अभाव घटित होता है।

भावार्थ— प्रत्येक व्यक्ति का चाहे वह सुरूप हो या कुरूप हो, चाहे स्वस्थ हो या अस्वस्थ हो स्व-शरीरावयवों के प्रति एक प्रकार का सम्मोह होता है तथा यह सम्मोह जितना सघन होता है, उतना ही व्यक्ति स्व-शरीर को सजाने-सँवारने में उत्सुक होता है। शरीर की रक्षार्थ अच्छा खाना-पीना तथा अच्छा पहनना एक अलग तरह की बात होती है। लेकिन यह उससे बिल्कुल ही भिन्न प्रकार का होता है, यह रक्षार्थ कम, प्रदर्शनार्थ अधिक होता है। जब व्यक्ति मनसा-वाचा-कर्मणा शुद्धि को अपनाता है, तो उसके अन्दर एक समग्रता पैदा होती है, जो उसे स्व-शरीरसम्मोह के प्रति जागृत करती है, जिसमें व्यक्ति महसूस करता है कि मैं शरीर की साफ-सफाई, साज-सज्जा आदि में अति-उत्सुक हूँ और इतनी सफाई करने पर भी यह शरीर सर्वथा शुद्ध नहीं होता, शरीर के रोम-रोम से हर क्षण स्वेद आदि गन्दगी बाहर आ रही है, यदि कभी कुछ दिनों तक सफाई न की जाये तो शरीर कितना वीभत्स हो जाता है? इत्यादि। सभी योगाङ्ग तथा आन्तरिक शुद्धिकरण के साधन सत्सङ्ग-स्वाध्याय-सत्याचार आदि को अपनाने से साधक के अन्दर एक प्रकार का रूपान्तरण या गुणात्मक परिवर्तन घटित होता है, जिससे उसका स्वशरीरावयवों के प्रति सम्मोह टूट जाता है और किसी अन्य स्त्री-पुरुष के साथ शारीरिक-सम्पर्क में आने-जाने की इच्छा तिरोहित-सी हो जाती है।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥41॥

शब्दार्थ— [सत्त्वशुद्धि-सौमनस्य-एकाग्र्य-इन्द्रियजय-आत्मदर्शनयोग्यत्वानि च] चित्त की शुद्धि, मन की स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर वशता तथा आत्मदर्शन की योग्यता भी प्राप्त होती है।

सूत्रार्थ— शुद्धिकरण का पालन करने से साधक के चित्त में राग-द्वेष का अभाव, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर वशता तथा आत्मदर्शन की योग्यता भी प्राप्त होती है।

भावार्थ— बाह्याभ्यन्तर शुद्धता को जीवनचर्या का अङ्ग बना लेने से पूर्वसूत्रोक्त उपलब्धियों के साथ-साथ हमारे चित्त में राग-द्वेष के भावों की तीव्रता मन्द पड़ने लगती है तथा उनकी संख्या में भी कमी होने लगती है। सभी योगाङ्गों के पालन का सम्मिलित परिणाम यह निकलता है कि चित्त राग-द्वेष के भावों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। यही सत्त्व-शुद्धि है। इस राग-द्वेष

मुक्ति से मन की प्रसन्नता प्राप्त होती है, जिससे हमारे अन्दर एक प्रकार की उच्चस्तरीय एकाग्रता आविर्भूत होती है। इस एकाग्रता से साधक को इन्द्रियों की प्रवृत्ति-निवृत्ति पर अपना नियन्त्रण होना अनुभव होने लगता है, जिससे साधक स्वयं को जानने के योग्य हो जाता है।

जिज्ञासा– मनसा, वाचा, कर्मणा 'संतोष' का पालन करने से क्या घटित होता है?

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥42॥

शब्दार्थ– [सन्तोषात्] सन्तोष से [अनुत्तमसुखलाभः] सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

सूत्रार्थ– सन्तोष के भाव से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

भावार्थ– अपने पास विद्यमान साधनों के द्वारा पूर्ण पुरुषार्थ करने के बाद, जो भी परिणाम प्राप्त हो, उस परिणाम को बिना किसी शिकायत-भाव के प्रेमपूर्वक स्वीकार कर लेना, 'सन्तोष' कहलाता है। आकांक्षा-अपेक्षा कुछ इस तरह की चीजें हैं जो कि जितनी अच्छी हैं, उतनी ही बुरी भी हैं। कर्म करने से पहले आकांक्षा अमृत है क्योंकि वह हमारे प्रयासों में प्राण डाल देती है, लेकिन कर्म के समाप्त हो जाने पर वह महाविष है क्योंकि यदि परिणाम अपेक्षा-आकांक्षा के अनुरूप न हुआ, तो वह हमें निराशा के गहरे गड्ढे में ढकेल देती है। इसी कारण साधक के लिए संतोष का पालन करने का नियम रखा गया है। कर्म करते ही साधक आकांक्षा-अपेक्षा को छोड देता है तथा जो भी फल के रूप में परिणाम प्राप्त होता है, उसे बिना किसी शिकायत भाव के स्वीकार कर लेता है। इस स्वीकृति-भाव से उसके अन्दर एक प्रकार की सुखात्मक अनुभूति का आविर्भाव होता है, जो कि अनुत्तम या अत्युत्तम-स्तर की होती है।

जिज्ञासा– 'ईश्वर-प्रणिधान' से क्या घटित होता है?

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥43॥

शब्दार्थ– [कायेन्द्रियसिद्धिः] शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्धी आन्तरिक शक्तियों की प्राप्ति हो जाती है [अशुद्धिक्षयात्] अशुद्धि का क्षय हो जाने से [तपसः] तप के द्वारा।

सूत्रार्थ– मानसिक-वाचिक-कायिक तप के अनुष्ठान के द्वारा अशुद्धि का क्षय हो जाने से, साधक को शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्धी विभिन्न आन्तरिक क्षमताओं की प्राप्ति होने लगती है।

भावार्थ– मानसिक-वाचिक-कायिक तप का अनुष्ठान करने से अणिमा, लघिमा आदि कायिक सिद्धियाँ तथा अत्यधिक दूर की बात को सुन लेना, अत्यधिक दूर की वस्तु को देख लेना आदि इन्द्रियात्मक-सिद्धियों का प्राप्त होना शास्त्रों में लिखा है। अणिमा आदि सिद्धियों का क्या स्वरूप है? वे शरीरात्मक हैं या चित्तात्मक हैं, यह विद्वत्समुदाय में वाद-विवाद का विषय रहा है। मैं

भी व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर इस विषय में कुछ-विशेष कहने की स्थिति में नहीं हूँ। हो सकता है, वे सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित हों। परन्तु इन्द्रियात्मक-सिद्धियों की आविर्भूतता के विषय में साधकों को किसी प्रकार की द्विधा में नहीं रहना चाहिये। मानसिक-वाचिक-कायिक तपश्चर्या तथा अन्य सभी योगाङ्गों का अनुष्ठान करने से इन्द्रियगत तथा चित्तगत तमस रूपी अशुद्धि क्षीण होने लगती है, जिससे नेत्र-श्रोत्र आदि इन्द्रियों में दिव्य-दर्शन, दूर-दर्शन, दिव्य-श्रवण, दूर-श्रवण आदि की आश्चर्यजनक क्षमताएँ स्वतः ही आविर्भूत होने लगती हैं।

जिज्ञासा– 'स्वाध्याय' करने से क्या घटित होता है?

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥44॥

शब्दार्थ– [स्वाध्यायात्] स्वाध्याय से [इष्टदेवतासम्प्रयोगः] इष्ट दिव्य आत्माओं के साथ सम्पर्क होने लगता है।

सूत्रार्थ– प्रणव आदि पवित्र शब्दों का जप तथा मोक्षशास्त्रों के अध्ययनरूप स्वाध्याय के निरन्तर करने से इष्ट दिव्य आत्माओं के साथ सम्पर्क होने लगता है।

भावार्थ– दर्शन, उपनिषद् आदि मोक्षशास्त्रों का निरन्तर अध्ययन करते रहने से तथा 'ओ३म्' आदि शब्दों का योगदर्शन में बतायी गयी विधि से जप करने पर साधक का जप-काल में दिव्य आत्माओं से अनायास ही सम्पर्क होने लगता है। उनसे साधक साधना में मार्गदर्शन भी पा सकता है। इस कथन की सत्यता-असत्यता के विषय में साधकों को किसी प्रकार की द्विधा में नहीं रहना चाहिये। परन्तु इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि यह सब अनायास अर्थात् बिना किसी विधिवत् प्रयास के होता है। घटना कुछ इस प्रकार घटित होती है कि अचानक आप खो से जाते हो और अनायास स्वयं को किसी दिव्य आत्मा के सम्पर्क में पाते हो, जो कुछ जानना चाहते हो उसे अभिव्यक्त करते हो और उससे समाधान पाते हो। समाधान पाकर तुम फिर अचानक खो से जाते हो और स्वयं को पूर्वावस्था में पाते हो। मध्य की घटना स्वप्न जैसी प्रतीत होती है। साधकों को बताना चाहूँगा कि कई बार जप व ध्यान करते हुए वे वास्तव में स्वप्नावस्था में चले जाते हैं परन्तु ऐसा तभी होता है, जब आप अपने व्यवहारकाल में किसी व्यक्ति, वस्तु आदि के विषय में अत्यधिक साकांक्ष होते हो। वैसे यह भी है कि दीर्घकाल से अभ्यास करने वाले प्रबुद्ध साधक बड़ी आसानी से समझ जाते हैं कि यह स्वप्नावस्था थी या फिर वास्तव में किसी दिव्य-आत्मा से सम्पर्क था।

जिज्ञासा– 'ईश्वर-प्रणिधान' से क्या घटित होता है?

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥45॥

शब्दार्थ— [समाधिसिद्धिः] समाधि की सिद्धि हो जाती है [ईश्वरप्रणिधानात्] ईश्वर प्रणिधान का निरन्तर अभ्यास करने से।

सूत्रार्थ— मन, वाणी तथा शरीर की समस्त क्रियाओं को प्रभु के प्रति सविनय समर्पित कर देने रूप ईश्वर-प्रणिधान का निरन्तर अभ्यास करने से साधक को समाधि-अवस्था की प्राप्ति होने लगती है।

भावार्थ— 'ईश्वर मुझे सतत देख-सुन-जान रहा है' इस तरह की जीवन्त अनुभूति को मन में बनाये हुए अपने सभी शारीरिक, वाचिक व मानसिक क्रिया-कलापों को करना तथा उन सभी क्रिया-कलापों को फल की आकांक्षा से रहित होकर अति प्रेम भाव से परमपिता प्रभु को समर्पित करते जाना, 'ईश्वर-प्रणिधान' कहलाता है। मनुष्य के लिए यह बडी दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि वह अधिकांशतया भूत या भविष्यत् में ही जीता है। हमारे दैनिक जीवन का अत्यल्प हिस्सा ही हम वर्तमान में वर्तमान होते हुए जीते हैं तथा द्वितीय हमारे जीवन के सभी क्रियाकलाप अत्यधिक आकांक्षा से युक्त होते हैं, यहाँ तक कि हम परोपकार के कार्यों को भी स्वर्ग या सुख प्राप्ति आदि की अकांक्षा से युक्त होकर ही करते हैं। इन दोनों कारणों की वजह से हमारा मन निरन्तर व्युत्थित या हलचल या खलबली की अवस्था में ही रहता है। इन्हीं की वजह से हमारा मन कभी समग्र नहीं हो पाता तथा वृत्तिनिरोध की अवस्था नहीं बन पाती है। अपने दैनिक जीवन में अहर्निश ईश्वर प्रणिधान की जीवन्त भावना को सतत अपनाने से हमारे मन में एकाग्रता-समग्रता का आविर्भाव होता है तथा फल की आकांक्षा से रहित हो जाने की वजह से हम वर्तमान में जीना आरम्भ कर देते हैं। इन दोनों चीजों के द्वारा अन्ततः वृत्तिनिरोध घटित होकर समाधि की अवस्था बनने लगती है।

इस सूत्र के अर्थ के सन्दर्भ में यह स्वाभाविक शंका उठती है कि यदि ईश्वर-प्रणिधान से ही समाधि लग जाती है या लग सकती है, तो अन्य योगाङ्गों के पालन की क्या आवश्यकता है? इस सन्दर्भ में मेरा कहना है कि इस प्रश्न से भी पहले यह विचारणीय है कि क्या एक आदमी मानसिक-वाचिक-कायिक स्तर पर अहर्निश पूर्णरूप से ईश-समर्पित रहते हुए जीवन जी सकता हैं? यदि हाँ तो मैं कहूँगा कि जिस दिन आप ऐसा करने में समर्थ हो जायेंगे, उस दिन आप पायेंगे कि आप अन्दर से इतने शान्त तथा सहज-सरल हो गये है कि अन्तःकरण में किसी को दुःख देने की, असत्याचरण करने की, अनधिकारपूर्वक कुछ लेने की, काम-क्रीड़ा में उतरने की व आवश्यकताओं से अधिक इकट्ठा करने की भावना ही तिरोहित-सी हो गयी है तथा

शारीरिक स्तर पर एक प्रकार की विलक्षण स्थिरता तथा मनःस्तर पर एक प्रकार की विचारशून्यता-सी आविर्भूत होने लगी है। इस दशा में आपको हिंसा, असत्य, चोरी आदि के आचरण बचकाने, असहज व मूढ़तापूर्ण-से प्रतीत होंगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्ण ईश्वर-प्रणिधान की अवस्था में अहिंसा, सत्य आदि योगाङ्गों का आचरण स्वतः ही होने लगता है, जिससे उनके लिए अतिरिक्त प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु इन्सान बड़ा स्वार्थी, हिसाबी-किताबी तथा लोभी-लालची प्राणी है, बिना स्वार्थ के तो वह किसी को नमस्कार भी नहीं करता, किसी असहाय, लूले-लंगड़े भिखारी को पचास पैसे देने से पहले भी वह हिसाब लगा लेता है कि एक असहाय गरीब को दान देने से पुण्य होगा, जिससे मुझे स्वर्ग की प्राप्ति होगी। स्वर्ग की प्राप्ति रूप फल के बिना तो वह पचास पैसे भी नहीं छोड़ता। फिर ऐसे प्राणी से कैसे आशा बाँधी जा सकती हैं ? कि वह यकायक सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर देगा तथा फल की आकांक्षा भी छोड़ देगा। वस्तुतः कोई विरले ही होते हैं, जो सर्वतोभाव ईश समर्पित हो जाते हैं, उनके लिए समाधि तक पहुँचने हेतु ईश्वर-प्रणिधान पर्याप्त है। बाकी के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि वाली सुव्यवस्थित सरणी है ही।

जिज्ञासा– योगाङ्ग 'आसन' का क्या स्वरूप है ?

स्थिरसुखमासनम् ॥46॥

शब्दार्थ– [स्थिरसुखम्] शरीर की जो स्थिति स्थिरता व सुख से युक्त हो, वह [आसनम्] आसन कहलाती है।

सूत्रार्थ– शरीर की जो स्थिति स्थिरता व सुखमयता से युक्त हो, वह आसन कहलाती है।

भावार्थ– साधक को धारणा-ध्यान आदि के द्वारा लम्बी अन्तर्यात्रा पर निकलना होता है, जिसके लिये उसे लम्बे समय तक एक ही स्थिति में बैठना होता है। बैठने की स्थिति ही 'आसन' कहलाती है। वह आसनरूप स्थिति किन गुणों से युक्त हो ?, जिससे कि वह अन्तर्यात्रा में सहायक सिद्ध होवे। इसके विषय में बताया गया कि वह आसन-स्थिति स्थिरता व सुखमयता इन दो गुणों से युक्त होनी चाहिये। जिस स्थिति में हम सुखपूर्वक स्थिर होकर लम्बे समय तक बैठ सकें, वही स्थिति हमारे लिये हमारा योग-साधना का आसन है। सामान्य रूप से स्वस्तिकासन, सुखासन तथा अर्द्ध पदमासन आदि इस प्रकार के आसन हैं, जिनमें अधिकांशतया सभी व्यक्ति सुखपूर्वक स्थिरता के साथ लम्बे समय तक बैठ सकते हैं। वैसे रोग या अपंगता वाली स्थितियों में शवासन में भी अभ्यास किया जा सकता है।

जिज्ञासा– आसन में स्थिरता-निश्चलता कैसे प्राप्त होती है ?

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥47॥

शब्दार्थ– [प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्] प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में ध्यान लगाने से आसन स्थिर व सुखपूर्ण हो जाता है।

सूत्रार्थ– प्रयत्न की शिथिलता और असीम आकाश या ईश्वर में ध्यान लगाने से साधक का आसन स्थिर व सुखपूर्ण हो जाता है।

भावार्थ– यह हम सब का अनुभव है कि हम लम्बे समय तक किसी एक स्थिति में स्थिर होकर नहीं बैठ सकते। कुछ देर बाद ही शरीर की स्थिति बदलने की इच्छा होने लगती है। यदि हम शरीर-स्थिति को नहीं बदलते हैं, तो बेचैनी होने लगती है तथा अन्ततः उस स्थिति को हमें बदलना ही पडता है। इस तरह की अवस्था से मुक्ति पाने के लिए सर्वप्रथम हमें कुछ सूक्ष्म बातों को गम्भीरता से समझ लेना चाहिये कि हमारे शरीर और हमारे मन का बहुत गहन सम्बन्ध है, जिससे हमारे शरीर की अवस्था का हमारे मन पर तथा हमारे मन की अवस्था का हमारे शरीर पर तत्क्षण प्रभाव पडता है। इस दृष्टि से हमारे आसन की अस्थिरता का सबसे बड़ा कारण होता है, हमारी मनोदशा का बार-बार बदलना। जब तक मन के स्तर पर स्थिरता घटित न होगी, तब तक शरीर के स्तर पर भी स्थिरता घटित न हो सकेगी तथा जब तक शरीर के स्तर पर स्थिरता घटित न होगी तब तक मन में भी स्थिरता घटित न हो पायेगी। इस उभयाश्रित स्थिरता को घटित करने का उपाय यह है कि आसन की स्थिति में बैठकर शरीर व मन को ढीला छोड देना, कोई भी प्रयत्न न करने रूप भावात्मक संकल्प बनाना तथा मन को असीम-अनन्त-निराकार आकाश या ईश्वर तत्व में लगा देना। इन दोनों उपायों के माध्यम से साधक को बहुत शीघ्र आसन सिद्ध हो जाता है।

ज़िज्ञासा– आसन के स्थिर व सुखपूर्ण हो जाने पर अर्थात् आसन के सिद्ध हो जाने पर क्या घटित होता है ?

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥48॥

शब्दार्थ– [ततः]उसके बाद अर्थात् आसन के स्थिर हो जाने पर [द्वन्द्वानभिघातः] सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, व संकल्प-विकल्प रूप द्वन्द्वों का अभिघात नहीं होता।

सूत्रार्थ– आसन के सिद्ध हो जाने पर, साधक के शरीर व मन पर सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास व संकल्प-विकल्प रूप द्वन्द्वों का अभिघात नहीं होता।

भावार्थ— जब तक साधक को आसन सिद्ध नहीं हो जाता अर्थात् आसन में 3-4 घण्टे तक स्थिर होकर बैठने का अभ्यास नहीं बन जाता, तब तक वातावरणीय सर्दी-गर्मी, शारीरिक भूख-प्यास तथा मानसिक संकल्प-विकल्प उसे अभिभूत करते रहते हैं, उसके शरीर व मन में एक प्रकार की विक्षोभावस्था-सी बनाये रखते हैं। लेकिन जब उसे आसन सिद्ध हो जाता है, तो ये द्वन्द्व अभिभूत हो जाते हैं। तब इन द्वन्द्वों की अनुभूति का तिरोभाव हो जाता है और यदि इन द्वन्द्वों की अनुभूति होती भी है, तो भी साधक के मन में विक्षुब्धता-उद्विग्नता आदि पैदा नहीं होती है। जीवन अपने आप में अविभाजित है इसलिये हमारे सभी क्रियाकलापों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। हमारे ध्यानकाल का हमारे व्यवहारकाल पर तथा हमारे व्यवहारकाल का हमारे ध्यानकाल पर बडा प्रभाव पड़ता है। जब साधक को आसन सिद्ध हो जाता है, तो ध्यानकाल में ही नहीं, बल्कि व्यवहारकाल में भी उसे द्वन्द्व अभिभूत नहीं कर पाते अर्थात् वह उनका प्रसंग बनने पर भी विक्षुब्ध नहीं होता।

जिज्ञासा— योगाङ्ग 'प्राणायाम' का क्या स्वरूप है?

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥49॥

शब्दार्थ— [तस्मिन् सति] उसके अर्थात् आसन के स्थिर हो जाने पर [श्वास-प्रश्वासयोः] श्वास लेने व श्वास को छोडने की [गतिविच्छेदः] स्वाभाविक गति को विच्छिन्न कर देना [प्राणायामः] प्राणायाम कहलाता है।

सूत्रार्थ— आसन के स्थिर हो जाने पर श्वास लेने व श्वास को छोड़ने की स्वाभाविक गति को विच्छिन्न कर देना प्राणायाम कहलाता है।

भावार्थ— प्राणायाम के विषय में ध्यातव्य है कि प्राण्णायाम का साधनात्मक लाभ हमें तभी मिलेगा, जब उसे हम आसन के सिद्ध हो जाने पर करेंगे। उससे पहले हमें प्राणायाम का केवल स्वास्थ्यात्मक लाभ मिलेगा। इसी कारण सूत्र में 'तस्मिन् सति' शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह भी ध्यातव्य है कि 'श्वास प्रश्वास की गति का विच्छेद करना' प्राणायाम का स्वरूप है, लक्ष्य नहीं। प्राणायाम का लक्ष्य है—'श्वास-प्रश्वास को अधिकतम लम्बा व सूक्ष्म करना।' जहाँ तक यह जिज्ञासा है कि श्वास-प्रश्वास की इस दीर्घता व सूक्ष्मता से क्या घटित होगा? तो इसका उत्तर यह है कि इससे हमें शारीरिक व मानसिक स्तर पर अधिकतम स्थिरता की प्राप्ति होगी, जो कि अग्रिम योगाङ्ग प्रत्याहार, धारणा आदि के सम्पादन में सहयोगी होगी।

जिज्ञासा– 'प्राणायाम' कितने प्रकार का होता है?

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥50॥

शब्दार्थ– [बाह्य-आभ्यन्तर-स्तम्भवृत्तिः] बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृति, स्तम्भवृत्ति प्राणायाम [देश-काल-संख्याभिः] देश, काल और संख्या के द्वारा [परिदृष्टः] नापा गया [दीर्घ-सूक्ष्मः] दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

सूत्रार्थ– बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृति, स्तम्भवृत्ति इन भेदात्मक नाम वाला प्राणायाम, देश, काल और संख्या के द्वारा नापा गया दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

भावार्थ– पूर्व सूत्र में वर्णन किया गया प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृति, स्तम्भवृत्ति इन तीन भेदों वाला होता है। इनका निरन्तर लम्बे समय तक अभ्यास करने के उपरान्त, जब प्राण की गति को देश, काल और संख्या के द्वारा नाप कर देखा जाता है, तो पता चलता है कि प्राण पूर्व की अपेक्षा लम्बा और गहरा होता जा रहा है। प्राणायाम के बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति व स्तम्भवृत्ति भेदों को भी नीचे संक्षेप में स्पष्ट किया जा रहा है–

1. बाह्यवृत्ति प्राणायाम– किसी भी अभ्यस्त आसन में बैठ जायें तथा श्वास का एक प्रवाह-सा बनाते हुए श्वास को तीव्रता से बाहर फेंक दें तथा बाहर ही रोक दें। यथासामर्थ्य श्वास को बाहर ही रोके रखें। मन को विचाररहित रखते हुए दृष्टि को नासिकाग्र पर स्थिर करें। जब श्वास को अन्दर लेने की इच्छा हो, तब सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे श्वास को अन्दर ले लें। बस इतना ध्यान रखना है कि श्वास झटके से अन्दर न जाये। इसका यथाशक्ति 5-6 बार अभ्यास करें। इस प्रकार का प्राणायाम 'बाह्यवृत्ति प्राणायाम' कहलाता है।

2. अभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम– किसी भी अभ्यस्त आसन में बैठ जायें तथा श्वास का एक प्रवाह-सा बनाते हुए श्वास को अन्दर भर लें तथा अन्दर ही रोक लें। यथासामर्थ्य श्वास को अन्दर ही रोके रक्खें। मन को विचाररहित रखते हुए दृष्टि को नासिकाग्र पर स्थिर करें। जब श्वास को बाहर छोड़ने की इच्छा हो, तब सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे श्वास को बाहर छोड़ दें। बस इतना ध्यान रखना है कि श्वास झटके से बाहर न जाये। इसका यथाशक्ति 5-6 बार अभ्यास करें। इस प्रकार का प्राणायाम 'अभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम' कहलाता है।

3. स्तम्भवृत्ति प्राणायाम– किसी भी अभ्यस्त आसन में बैठ जायें तथा श्वास को जहाँ का तहाँ रोक दें और यथासामर्थ्य इसी स्थिति को बनाये रक्खें। मन को विचाररहित रखते हुए दृष्टि को नासिकाग्र पर स्थिर करें। कुछ देर बाद जब श्वास को लेने या छोड़ने की इच्छा बलवती होने लगे, तब बड़ी सावधानीपूर्वक इच्छानुसार धीरे-धीरे श्वास को अन्दर ले लें या बाहर छोड़ दें। श्वास को अन्दर लेते हुए या बाहर छोड़ते हुए किसी भी प्रकार का झटका न लगे इसका

विशेष ध्यान रखें। इसका यथाशक्ति 5-6 बार अभ्यास करें। इस प्रकार का प्राणायाम 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' कहलाता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥51॥

शब्दार्थ— [बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी] बाह्य और अभ्यन्तर विषयक प्राण के आक्षेप अर्थात् आलोचना वाला होता है, [चतुर्थः] चौथा प्राणायाम।

सूत्रार्थ— चौथा प्राणायाम बाह्य और अभ्यन्तर विषयक प्राण के आक्षेप अर्थात् आलोचन स्वरूप वाला होता है।

भावार्थ— सूत्र के शब्दों का भाव यह है कि इस प्राणायाम में श्वास को न तो अन्दर रोका जाता है और न ही बाहर, बल्कि अन्दर आते हुए तथा बाहर जाते हुए प्राण को देखा मात्र जाता है। इसकी विधि इस प्रकार है कि किसी भी अभ्यस्त आसन में बैठ जायें तथा आते-जाते श्वास को देखते मात्र रहें। मन में उठ रहे विचारों के प्रति सर्वथा उदासीन बने रहें। श्वास को न लम्बा करने का प्रयास करें और न ही तीव्र, बस उसके स्वयमेव हो रहे आवागमन मात्र को देखते रहें। इतना मात्र करने से कुछ देर बाद आप पायेंगे कि श्वास दीर्घ व सूक्ष्म हो रहा है।

जिज्ञासा— 'प्राणायाम' का निरन्तर लम्बे समय तक अभ्यास करने से क्या-क्या घटित होता है?

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥52॥
धारणासु च योग्यता मनसः ॥53॥

शब्दार्थ— [ततः] उससे अर्थात् प्राणायाम के नियमित अभ्यास से [क्षीयते] क्षीण होने लगता है [प्रकाशावरणम्] प्रकाशावरण, [धारणासु च] तथा धारणाओं का अनुष्ठान करने में [योग्यता मनसः] मानसिक सक्षमता प्राप्त होती है।

सूत्रार्थ— प्राणायाम के नियमित अभ्यास से प्रकाशावरण कमजोर पड़ने लगता है तथा धारणाओं का अनुष्ठान कर सकने की मानसिक-सक्षमता की प्रप्ति भी होती है।

भावार्थ— यदि आप कभी किसी एकान्त स्थान पर बैठकर अपना निरीक्षण करें तो आप पायेंगे कि—

1- आप अन्दर से समग्र नही हैं, आप बिखरे-बिखरे से हैं।

2- आपके अन्दर एक प्रकार की अस्त-व्यस्तता सी मची हुई है।

3- आप एक प्रकार की मदहोशी-सी से घिरे हुए हैं और इसी मदहोशी-सी में रहते हुए आप अपना चौबीसों घण्टे का जीवन जी रहे हैं।

4- आपके अन्दर व्यक्ति, वस्तु, विचार आदि के प्रति प्रवृत्त होने का तथा उनसे निवृत्त होने का एक ढर्रा-सा निर्मित हो गया है और आप परवश-से हुए कोल्हू के बैल की तरह उसी ढर्रे में गति-आगति करते रहते हो।

5- आपके अन्दर अकारण ही एक प्रकार की बेचैनी या अतृप्ति की सी अवस्था बनी हुई है।

वस्तुतः सभी की ऐसी ही हालत है। इसे ही शास्त्रों में अविद्याग्रस्तता कहा है। किताबों के माध्यम से कुछ जान लेने से या संसार की कुछ चीजें इकट्ठी कर लेने से यह तिरोहित न हो जायेगी। साधना के माध्यम से आत्मबोध ही इससे छुटकारा पाने का एकमात्र तरीका है। इसके अलावा अन्य कोई समाधान नही है। प्राणायाम का नियमित अभ्यास करने से हमारे शरीर में एक प्रकार की नैसर्गिक स्थिरता तथा प्राण के अन्दर एक प्रकार की लयबद्धता का आविर्भाव होता है, अन्तःकरण में एक प्रकार की समग्रता का आविर्भाव होने लगता है, जिससे हमारे अन्दर की बेहोशी-सी या हमारी मदहोशी-सी टूटने लगती है तथा हम अपने आप को होश-से में आता सा महसूस करते हैं। इसे ही प्रकृत सूत्र में प्रकाशावरणक्षय कहा है। शास्त्रीय भाषा में कह सकते हैं कि प्राणायाम के नियमित अभ्यास से आत्मा के प्रकाश पर पड़ा अविद्यारूपी आवरण क्षीण होने लगता है। ऊपर की पंक्तियों में मैं स्पष्ट कर चुका हूँ कि हम अन्दर से बिखरे हुए से हैं और उस आन्तरिक बिखराव की वजह से हम किसी वस्तु, विचार आदि पर मानसिक रूप से अपने आप को बहुत देर तक स्थिर नहीं रख सकते हैं। यह भी स्पष्ट हो चुका है कि प्राणायाम के अभ्यास से हमारे अन्दर एक प्रकार की समग्रता का आविर्भाव होने लगता है अर्थात् हम अपने आप को आन्तरिक रूप से एकत्रित-सा महसूस करते हैं। इस आन्तरिक समग्रता की वजह से हम विभिन्न प्रकार की यौगिक धारणाओं को सम्पादित करने में सक्षम हो जाते हैं। यहाँ इतना सभी साधकों को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि प्राणायाम के द्वारा अविद्यारूपी प्रकाशावरण क्षीण मात्र होता है, नष्ट नहीं होता। नष्ट तो वह समाधि के अभ्यास के द्वारा ही होता है।

जिज्ञासा– योगाङ्ग 'प्रत्याहार' का क्या स्वरूप है?

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥54॥

शब्दार्थ– [स्वविषयासम्प्रयोगे] अपने विषयों के साथ सम्पर्क न रहने पर [चित्तस्य स्वरूपानुकारः इव इन्द्रियाणाम्] इन्द्रियों का चित्त के सदृश निरुद्ध-सा हो जाना, [प्रत्याहारः] प्रत्याहार कहलाता है।

सूत्रार्थ— इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ सम्पर्क न रहने पर, उनका चित्त के सदृश निरुद्ध-सा हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।

भावार्थ— योगाभ्यासियों के लिए यह सूत्र बहुत कीमती है। इस सूत्र को भली-भाँति न समझने की वजह से वर्षों तक योगाभ्यास करने के बाद भी कोई संतोषजनक परिणाम नही निकलता। वर्षों बाद भी हम अपने आप को वहीं खड़ा पाते हैं, जहाँ से हमने यात्रा आरम्भ की थी क्योंकि प्रत्याहार ही वह सेतु है, जिसके माध्यम से हम योग के अन्तर्राज्य मे प्रवेश करते हैं। यदि हमें प्रत्याहार का स्वरूप तथा प्रत्याहृत अवस्था को सम्पादित करने की विधि स्पष्ट नहीं है तो स्वाभाविक है कि हम वहीं खड़े रहेंगे अर्थात् साधना में हमारी प्रगति नहीं हो पायेगी।

अब मूल विषय पर आते हैं। प्रत्याहार की अवस्था तथा उस अवस्था को उत्पन्न करने की विधि को समझने से पहले हमें अपने अन्तर्तन्त्र की कार्यप्रणाली को समझना होगा। हमारे अन्तर्तन्त्र की कार्यप्रणाली कुछ इस प्रकार की है कि सर्वप्रथम हमारे मन में किसी व्यक्ति, वस्तु आदि से सम्बन्धित शब्द, रूप, रस आदि को सुनने, देखने, चखने आदि की आकांक्षा पैदा होती है, फिर उस आकांक्षा के वशीभूत होकर मन संकल्प के माध्यम से इन्द्रियों को उस व्यक्ति, वस्तु आदि विशिष्ट विषय को सुनने, सुनने, चखने आदि के लिए उस-उस विषय से सम्बन्धित ज्ञानेन्द्रिय को प्रेरित करता है तथा प्रेरित हुई ज्ञानेन्द्रियाँ मन को उस विषय का बोध करा देती हैं। इसके बाद यदि उस विषय में कोई क्रिया करनी अपेक्षित होती है, तो मन पुनः संकल्प के माध्यम से कर्मेन्द्रियों को प्रेरित करता है तथा प्रेरित हुई कर्मेन्द्रियों के द्वारा अपेक्षित क्रिया कर दी जाती है। उस क्रिया-सम्पादन को ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से मन साथ-साथ जान भी लेता है। इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मानसिक संकल्प के द्वारा हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ-कर्मेन्द्रियाँ विषय-बोध तथा क्रिया में प्रवृत्त होती हैं। इस अन्तर्तन्त्र के विषय में यह भी हम सभी स्वानुभव से जानते हैं कि मानसिक संकल्प के द्वारा ही हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ-कर्मेन्द्रियाँ विषय-बोध तथा क्रिया-प्रवर्तन से निवृत्त भी हो जाती हैं। इन सभी बातों को सभी साधकों को सर्वथा हृदयङ्गम कर लेना चाहिये।

अब प्रत्याहार की अवस्था को समझते हैं। प्रत्याहार की अवस्था में हमारी आन्तरिक स्थिति को सूत्रकार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' अर्थात् स्व-स्व विषयों से सम्पर्क-विच्छेद होने पर इन्द्रियों का चित्त के सदृश निरुद्ध-सा हो जाना 'प्रत्याहार' कहलाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्याहार की अवस्था में समस्त इन्द्रियों का स्व-स्व विषयों से सम्पर्क विच्छिन्न हो जाता है, चित्त ठहर-सा जाता है तथा इन्द्रियाँ भी उसी का अनुकरण-सी करती हुई ठहर-सी जाती हैं।

अब जिज्ञासा होती है कि इस अवस्था को उत्पन्न कैसे किया जाय ? इसका उत्तर यह है कि संकल्प-शक्ति के द्वारा ही इस अवस्था को उत्पन्न किया जा सकता है। यह पूर्व पंक्तियों में स्पष्ट किया जा चुका है कि इन्द्रियों का विषयों में प्रवर्तन-निर्वर्तन मानसिक संकल्प के अधीन है।

विधि की दृष्टि से उसकी एक सरल प्रक्रिया यह है कि किसी शान्त स्थान पर प्राणायाम के अभ्यास के बाद अपने मन में इस प्रकार के भावात्मक संकल्प उठाईये कि मेरा मन संकल्प-शून्य हो रहा है, मुझे अब कुछ भी देखना, सुनना, चखना आदि नहीं है, विषयों से मेरी इन्द्रियों का सम्पर्क-विच्छिन्न हो रहा है अर्थात् मुझे कुछ भी सुन, दीख आदि नहीं रहा है। इस प्रकार कुछ देर तक इन संकल्पों को मन में दोहराने से हमारे मन में एक ठहराव-सा आने लगता है व इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क टूटने लगता है तथा अन्ततः इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क सर्वथा टूट जाता है, मन भी ठहर-सा जाता है। तब मन होता है, परन्तु विषय-प्रवर्तन के संकल्प से शून्य-सा तथा इन्द्रियाँ होती है, परन्तु विषय-सम्पर्क से रहित। यह एक अभूतपूर्व अनुभव होता है। यही प्रत्याहार की अवस्था है।

जिज्ञासा– प्रत्याहार की अवस्था के घटित होने किस क्षमताविशेष की प्राप्ति होती है ?

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥55॥

शब्दार्थ– [ततः] उससे अर्थात् प्रत्याहार के घटित हो जाने से [परमा वश्यता इन्द्रियाणाम्] इन्द्रियों पर परम-वशता प्राप्त हो जाती है।

सूत्रार्थ– प्रत्याहार के घटित हो जाने पर साधक को सहज ही इन्द्रियों पर परम-वशता प्राप्त हो जाती है।

भावार्थ– प्रत्याहार की अवस्था में ही हमें स्वयं की महामहिमा का बोध होता है। इस अवस्था में पहुँचने पर ही हम सर्वप्रथम जानते हैं कि मैं आत्मा इस शरीर, मन व ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठाता हूँ तथा इनकी प्रवृत्ति-निवृत्ति मेरे संकल्प के अधीन है। यहाँ पर पहुँचकर साधक इन्द्रियों पर चरम-सीमा की वश्यता अनुभव करता है। इस अवस्था को उपलब्ध व्यक्ति को ही शास्त्रों में 'जितेन्द्रिय' शब्द से सम्बोधित किया गया है।

विभूतिपादः

जिज्ञासा— योगाङ्ग 'धारणा' का क्या स्वरूप है?

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥1॥

शब्दार्थ— [देशबन्धः चित्तस्य] चित्त को किसी स्थानविशेष में बाँध देना=टिका देना [धारणा] धारणा कहलाता है।

सूत्रार्थ— चित्त को शरीरस्थ या शरीर से बाह्य किसी स्थानविशेष पर रोक देना 'धारणा' कहलाता है।

भावार्थ— किसी स्थानविशेष पर चित्त को रोक लेना 'धारणा' है। वह स्थानविशेष शरीर के अन्दर भी हो सकता है तथा शरीर के बाहर भी हो सकता है। शरीर के अन्दर यथा—नाभिचक्र, आज्ञाचक्र, हृदयकमल, मूर्द्धज्योति, जिह्वाग्र, नासिकाग्र आदि तथा शरीर के बाहर यथा—कोई पुष्प, कोई चित्र, ध्रुव, चन्द्र आदि नक्षत्र, किसी बहती नदी की कल-कल ध्वनि आदि।

सभी साधकों के लिए ध्यातव्य है कि अष्टाङ्गयोग की अपनी एक क्रमिकता है, जिसमें पूर्वाङ्ग के द्वारा अपराङ्ग को सहायता मिलती है। यदि पूर्वाङ्ग भली-भाँति निष्पन्न न हो, तो अपराङ्ग की सम्यक् निष्पत्ति भी नहीं बन पाती है। धारणा के विषय में यह बात ज्यादा गहराई तक सत्य है क्योंकि वह अन्तरङ्ग योग का प्राथमिक चरण है। जब तक प्रत्याहार की अवस्था नहीं बन जाती, तब तक भली-भाँति धारणा बन ही नहीं सकती है। इस कारण योगाभ्यासियों को धारणा के अभ्यास से पहले प्रत्याहार की अवस्था को अच्छी तरह से बना लेना चाहिये।

जहाँ तक धारणाभ्यास की प्रक्रिया की बात है, उसमें कुछ विशेष रहस्य नहीं है। वह इतना ही है कि प्रत्याहार की अवस्था को भली-भाँति निष्पन्न करने के बाद नासिकाग्र आदि धारणा के स्थान पर हर प्रकार की भावना-कल्पना से रहित होकर स्वयं को एकाग्र करने का प्रयास करें। सतत प्रयास करते हुए अन्ततः आप पायेंगे कि चित्त उस स्थानविशेष में बन्ध गया है या अवरुद्ध हो गया है। यही धारणा की स्थिति है। इस स्थिति में धारणाकर्ता को स्वयं का, धारणा का विषय बनायी गयी वस्तु का तथा धारणा की प्रक्रिया का पृथक्-पृथक् सा अहसास बना रहता है।

जिज्ञासा– योगाङ्ग 'ध्यान' का क्या स्वरूप है?

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥2॥

शब्दार्थ– [तत्र] उसमें अर्थात् जिस स्थान पर चित्त को रोका गया है, उस स्थानविशेष में [प्रत्ययैकतानता] बोध की सततता बनी रहना [ध्यानम्] ध्यान कहलाती है।

सूत्रार्थ– जिस स्थान पर चित्त को रोका गया है, उस स्थानविशेष में बोध की सततता बनी रहना 'ध्यान' कहलाती है।

भावार्थ– धारणा के स्थान में चित्त स्थिर हो जाने के बाद, जब उस स्थिरता में एक प्रकार की सततता बनी रहती है, तो वही अवस्था 'ध्यान' कहलाती है। ध्यान की अवस्था को हम एक अन्य प्रकार से भी समझ सकते हैं–जैसा कि पूर्वसूत्र के भावार्थ के अन्त में बताया गया है कि धारणा की अवस्था में धारणाकर्ता को स्वयं का, धारणा का विषय बनायी गयी वस्तु का तथा धारणा की प्रक्रिया का पृथक्-पृथक् सा अहसास बना रहता है। यही धारणा की अवस्था जब प्रगाढ़ हो जाती है, तो धारणा की प्रक्रिया का अहसास होना बन्द हो जाता है। उस अवस्था में धारणाकर्ता को स्वयं का तथा धारणा का विषय बनायी गयी वस्तु का अहसास बना रहता है। यही अवस्था 'ध्यान' कहलाती है। इस अवस्था में शाब्दिक दृष्टि से धारणाकर्ता को 'ध्याता' तथा धारणा की विषय-वस्तु को 'ध्येय' कहा जाता है।

जिज्ञासा– योगाङ्ग 'समाधि' का क्या स्वरूप है?

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥3॥

शब्दार्थ– [तद् एव] वह ध्यान ही जब [अर्थमात्रनिर्भासम्] ध्येयवस्तुमात्रभासात्मक हो जाता है तथा ध्याता [स्वरूपशून्यम् इव] स्वयं के होने की प्रतीति से रहित-सा हो जाता है, [समाधिः] समाधि कहलाता है।

सूत्रार्थ– वह ध्यान ही जब ध्येयवस्तुमात्रभासात्मक हो जाता है तथा ध्याता स्वयं के होने की प्रतीति से रहित-सा हो जाता है, 'समाधि' कहलाता है।

भावार्थ– समाधि की अवस्था को सीधे-सरल शब्दों में हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि–"धारणा की प्रगाढ़तम अवस्था 'समाधि' है।" अर्थात् "किसी वस्तुविषयक प्रगाढतम एकाग्रता की अवस्था 'समाधि' कहलाती है।" या फिर यह भी कह सकते हैं कि– "ध्यान की उच्चतम अवस्था ही 'समाधि' है।" इस अवस्था में ध्याता को ध्येयवस्तुमात्र की प्रतीति होती है अर्थात् वह ध्याता के रूप में स्वयं की समुपस्थिति को भी भूल-सा जाता है।

त्रयमेकत्र संयमः।।4।।

शब्दार्थ— [त्रयम् एकत्र] एक वस्तुविषयक धारणा-धारणा-समाधि संयुक्त रूप से [संयमः] संयम कहलाते हैं।

सूत्रार्थ— एक वस्तुविषयक धारणा-धारणा-समाधि संयुक्त रूप से 'संयम' कहलाते हैं।

भावार्थ— एक वस्तुविषयक धारणा-धारणा-समाधि को दार्शनिक भाषा में संयुक्त रूप से 'संयम' कहा जाता है। इससे आगे सूत्रकार इसी शब्द का प्रयोग करेंगे।

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥5॥

शब्दार्थ— [तज्जयात्] उस संयम के सिद्ध हो जाने से [प्रज्ञालोकः] प्रकृष्ट ज्ञानालोक उपलब्ध होता है।

सूत्रार्थ— उस संयम के सिद्ध हो जाने पर योगी को प्रकृष्ट-ज्ञानालोक उपलब्ध होता है।

भावार्थ— यहाँ 'संयम के सिद्ध हो जाने से योगी को प्रकृष्ट ज्ञानालोक उपलब्ध होता है' इस वाक्य का अर्थ है—'संयम की अवस्था को आविर्भूत करने में सक्षम हो जाने से, योगी को संयमविषयक वस्तु के सम्बन्ध में प्रकृष्ट ज्ञान कराने वाला आलोक उपलब्ध होता है।' जहाँ तक यह प्रश्न है कि संयम अर्थात् समाधि के माध्यम से कैसे वस्तु-विषयक प्रकृष्ट ज्ञान होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि हमारे अन्दर जो जानने की क्षमता है, उस ज्ञान-क्षमता के साथ विषयवस्तु का सन्निकर्ष होने पर ही हमें तद्विषयक स्थूल-सूक्ष्म ज्ञान होता है। व्यवहार काल में क्षण-क्षण में नाना विषयों में विचरण करने से तद्वस्तुविषयक सामान्य ज्ञान ही होता है, प्रकृष्ट ज्ञान नहीं होता। समाधि अवस्था में विषयवस्तु के साथ हमारी जानने की क्षमता का परम-सन्निकर्ष होता है, उस परम सन्निकर्ष के कारण ही हमें विषयवस्तुविषयक प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥6॥

शब्दार्थ— [तस्य] उस प्रज्ञालोक-क्षमता का [भूमिषु] शरीर आदि के स्थानविशेषों में [विनियोगः] विनियोग किया जाता है।

सूत्रार्थ— उस प्रज्ञालोक-क्षमता का शरीर आदि के स्थानविशेषों में विनियोग किया जाता है।

भावार्थ— किसी वस्तु विषयक प्रगाढ़तम एकाग्रता को बना लेने की क्षमता को उपलब्ध कर लेने से हमारे अन्दर ध्येयवस्तुविषयक प्रकृष्ट ज्ञान को जानने की क्षमता का आविर्भाव होता

है, जिसे पूर्वसूत्र में 'प्रज्ञालोक' कहा है। इस सूत्र में बता रहे हैं कि प्रज्ञालोक रूप क्षमता का शरीर आदि के स्थानविशेषों में विनियोग किया जाता है। यदि कोई पूछे कि कि शरीर आदि के स्थानविशेषों में प्रज्ञालोक रूप क्षमता का विनियोग क्यों किया जाता है? तो इसका उत्तर यह है कि कुछ क्षमताविशेषों को पाने के लिये। अब यदि कोई यह जानना चाहे कि वे स्थानविशेष कौन-कौन से हैं? और किस स्थान पर विनियोग करने से क्या क्षमता उपलब्ध होती है? तो इसका उत्तर यह है कि इन सब बातों का आगे के सूत्रों में विस्तार से वर्णन किया गया है।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥7॥

शब्दार्थ– [त्रयम्] तीनों साधन [अन्तरङ्गम्] अन्तरङ्ग हैं [पूर्वेभ्यः] पूर्व वालों की अपेक्षा से।

सूत्रार्थ– धारणा-ध्यान-समाधि ये तीनों साधन अन्तरङ्ग हैं, पूर्व वाले यम, नियम, आसन आदि पाँच अङ्गों की अपेक्षा।

भावार्थ– यहाँ सम्प्रज्ञात समाधि को दृष्टि में रखते हुए धारणा-ध्यान-समाधि को यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार के समूह की अपेक्षा से अन्तरङ्ग साधन बताया गया है।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥8॥

शब्दार्थ– [तत् अपि] वह धारणा-ध्यान-समाधि रूप अन्तरङ्ग समुदाय भी [बहिरङ्गम्] बहिरङ्ग साधन हैं [निर्बीजस्य] निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि का।

सूत्रार्थ– सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधनरूप वह धारणा-ध्यान-समाधि का समुदाय भी बहिरङ्ग साधन हैं, निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि का।

भावार्थ– असम्प्रज्ञात समाधि को दृष्टि में रखते हुए सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधनरूप धारणा, ध्यान, समाधि का समुदाय भी बहिरङ्ग साधन कहा जायेगा क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि सर्ववृत्तिनिरोधस्वरूप वाली होती है।

जिज्ञासा– यौगिक साहित्य में बहुधा प्रयुक्त 'चित्त का निरोध-परिणाम' क्या है?

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥9॥

शब्दार्थ– [व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः] व्युत्थान और निरोध के संस्कारों का क्रमशः [अभिभवप्रादुर्भावौ]दबना और उभरना रूप [निरोधक्षणचित्तान्वयः] निरोध काल में चित्त का क्रम ही चित्त का [निरोधपरिणामः] निरोध-परिणाम कहलाता है।

सूत्रार्थ— व्युत्थान के संस्कारों का सतत दबना और निरोध के संस्कारों का सतत उभरना रूप निरोध काल में चित्त का क्रम होता है, यह ही चित्त का 'निरोध- परिणाम' है।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥10॥

शब्दार्थ— [तस्य] उस चित्त का [प्रशाान्तवाहिता] प्रशान्त बहाव बना रहता है, [संस्कारात्] संस्कार के कारण से।

सूत्रार्थ— उस निरुद्ध चित्त का प्रशान्त बहाव बना रहता है, सदृश संस्कारों के कारण से।

जिज्ञासा— यौगिक साहित्य में बहुधा प्रयुक्त 'चित्त का समाधि-परिणाम' क्या है?

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥11॥

शब्दार्थ— [सर्वाथतैकाग्रतयोः] सर्वार्थता और एकाग्रता का क्रमशः [क्षयोदयौ] तिरोभाव और प्रादुर्भाव होते जाना [चित्तस्य] चित्त का [समाधिपरिणामः] समाधि-परिणाम है।

सूत्रार्थ— चित्त की सर्वार्थ प्रवृत्ति का सतत तिरोभाव और एकाग्र प्रवृत्ति का सतत प्रादुर्भाव होते जाना, चित्त का 'समाधि-परिणाम' कहलाता है।

जिज्ञासा— यौगिक साहित्य में बहुधा प्रयुक्त 'चित्त का एकाग्रता-परिणाम' क्या है?

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥12॥

शब्दार्थ— [ततः पुनः] उस समाधि-परिणाम के अनन्तर [शान्तोदितौ] शान्त और उदय होती हुई [तुल्यप्रत्ययौ] समान वृत्तियाँ बनी रहना [चित्तस्य] चित्त का [एकाग्रतापरिणामः] एकाग्रता-परिणाम है।

सूत्रार्थ— उसके अनन्तर फिर शान्त और उदय होती हुई समान वृत्तियाँ चालू रहना, चित्त का 'एकाग्रता-परिणाम' है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥13॥

शब्दार्थ— [एतेन] इससे अर्थात् गतसूत्रों में चित्त के परिणाम कथन से [भूतेन्द्रियेषु] भूतों और इन्द्रियों में [धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः] धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम, अवस्था-परिणाम भी [व्याख्याताः] व्याख्या किये गये समझ लेने चाहियें।

सूत्रार्थ— इससे अर्थात् गतसूत्रों में चित्त के परिणाम कथन से भूतों और इन्द्रियों में धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम भी व्याख्या किये गये समझ लेने चाहिये।

जिज्ञासा– 'धर्मी' किसे कहते हैं?

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥14॥

शब्दार्थ– [शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती] शान्त, उदित और भावी धर्मों में सतत अनुगत रहने वाला तत्व [धर्मी] धर्मी कहलाता है।

सूत्रार्थ– शान्त, उदित और भावी धर्मों में सतत अनुगत रहने वाला तत्व 'धर्मी' कहलाता है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥15॥

शब्दार्थ– [क्रमान्यत्वम्] क्रम का अन्य-अन्य होना [परिणामान्यत्वे] परिणाम के अन्य-अन्य होने में [हेतुः] कारण है।

सूत्रार्थ– क्रम का अन्य-अन्य होना, परिणाम के अन्य-अन्य होने में कारण है।

सूत्रभूमिका– स्थानविशेषों में संयम करने से योगी को बड़ी विलक्षण सामर्थ्यें प्राप्त होती हैं, जिन्हें दार्शनिक भाषा में 'सिद्धि' या 'विभूति' कहा जाता है। अग्रिम सूत्र से संयम-स्थान के नामोल्लेखपूर्वक उन्हीं सिद्धियों का वर्णन प्रारम्भ हो रहा है।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥16॥

शब्दार्थ– [परिणामत्रयसंयमात्] धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम व अवस्था-परिणाम रूप परिणामत्रय में संयम करने से [अतीतानागतज्ञानम्] वस्तुविषयक अतीत और अनागत का ज्ञान हो जाता है।

सूत्रार्थ– धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम व अवस्था-परिणाम रूप परिणामत्रय में संयम करने से तद्वस्तुविषयक अतीत और अनागत का ज्ञान हो जाता है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥17॥

शब्दार्थ– [शब्दार्थप्रत्ययानाम् इतरेतराध्यासात्] शब्द, अर्थ और ज्ञान के एक-दूसरे में आरोपित हो जाने से [सङ्करः] अभिन्न प्रतीति होती है, [तत्प्रविभागसंयमात्] उनके सूक्ष्म विभाग में संयम करने से [सर्वभूतरुतज्ञानम्] सब प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होने लगता है।

सूत्रार्थ– शब्द, अर्थ और ज्ञान के एक दूसरे में आरोपित हो जाने से तीनों का सङ्कर हो जाता है। उनके सूक्ष्म विभाग में संयम करने से योगी को सब प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होने लगता है अर्थात् उनके अभिप्राय का ज्ञान होने लगता है।

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥18॥

शब्दार्थ— [संस्कारसाक्षात्करणात्] अतीतजन्मगत संस्कारों का साक्षात्कार करने से [पूर्वजातिज्ञानम्] पूर्व के जन्मों का ज्ञान हो जाता है।

सूत्रार्थ— अतीतजन्मगत संस्कारों का साक्षात्कार करने से योगी को पूर्व के जन्मों का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ— अतीत-जन्मगत संस्कारों का साक्षात्कार करने से योगी को अपने पूर्व के जन्मों का इस जन्म की भाँति ज्ञान हो जाता है। इससे योगी को यह लाभ होता है कि जिस प्रकार इस जीवन में की गयी गलतियों का स्मरण होने से व्यक्ति उन्हें नही दोहराता, उसी प्रकार पूर्व जन्मों में पुनः पुनः दोहरायी गयी काम, क्रोध, मोह आदि की अभिभूतता को जान लेने से उन्हें इस जन्म में नहीं दोहराता।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥19॥
न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूत्वात् ॥20॥

शब्दार्थ— [प्रत्ययस्य] दूसरे के चित्तप्रत्यय अथवा चित्तवृत्ति में संयम करने से [परचित्तज्ञानम्] दूसरे की चित्तावस्था का ज्ञान हो जाता है। [न च] परन्तु नहीं होता है, [तत्] वह परचित्तावस्था का ज्ञान [सालम्बनम्] विषय-वस्तु सहित [तस्य] उस विषयवस्तु सहित चित्त के [अविषयीभूतत्वात्] संयम का विषय न होने से।

सूत्रार्थ— दूसरे के चित्तप्रत्यय अथवा चित्तवृत्ति में संयम करने से दूसरे की चित्तावस्था का ज्ञान हो जाता है, परन्तु वह परचित्तावस्था का ज्ञान विषय-वस्तु सहित नहीं होता है, उस विषयवस्तु सहित चित्त के संयम का विषय न होने से।

भावार्थ— योगी दूसरे व्यक्ति के विचारों में संयम करके उसकी चित्तावस्था को जान लेता है कि उसका चित्त रागयुक्त है या द्वेषयुक्त है, वह व्यक्ति उस समय अहंकारग्रस्त है या मोहग्रस्त है, परन्तु वह व्यक्ति किस व्यक्ति, वस्तु या विचार आदि को लेकर राग-द्वेष आदि से युक्त है, यह नहीं जान पाता। इसका कारण यह है कि राग-द्वेष आदि की विषयवस्तुसहित चित्त उस समय योगी के संयम का विषय नहीं होता। हाँ, जब विषयवस्तुओं सहित चित्त ही संयम का विषय होता हो, तब इन सब बातों को भी जाना जा सकता है कि किस व्यक्ति, वस्तु आदि को लेकर, वह व्यक्ति रागी, द्वेषी आदि है।

सङ्गति– विभूति प्रकरण को आगे बढाते हुए ऋषिवर कह रहे हैं–

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् ॥21॥

शब्दार्थ– [कार्यरूपसंयमात्] शरीर के स्वरूप में संयम करने से [तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे] उसकी अर्थात् शरीर की रूपग्राह्यशक्ति के रुक जाने पर [चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगे] चक्षु और प्रकाश का परस्पर सम्पर्क न होने की स्थिति में [अन्तर्द्धानम्] शरीर का अन्तर्द्धान होना घटित होता है।

सूत्रार्थ– शरीर के रूप में संयम करने से, शरीर की रूपग्राह्यशक्ति के रुक जाने पर, देखने वाले व्यक्ति की चक्षु-इन्द्रिय और योगी के शरीर से परावर्तित होने वाले प्रकाश का परस्पर सम्पर्क न बन पाने की स्थिति में योगी के शरीर का अन्तर्द्धान होना घटित होता है।

भावार्थ– वस्तु के विद्यमान रहते हुए भी उस वस्तु का न दीख पडना 'अन्तर्धान होना' कहलाता है। इस सूत्र में वर्णित सिद्धि को समझने के लिए पहले हमें किसी वस्तु के दीख पड़ने की वैज्ञानिक-प्रक्रिया को समझना होगा। प्रकाश किरणों के रूप में होता है तथा सर्वत्र अल्पाधिक मात्रा में उसकी किरणें फैली हुई हैं। किसी भी ठोस चीज से टकराकर ये किरणें परावर्तित होती हैं। परावर्तित हुई इन किरणों का जब हमारी आँख से सम्पर्क होता है, तो इन किरणों के माध्यम से हमारी आँख में उस वस्तु का प्रतिबिम्ब बनता है। इस प्रकार हम वस्तुओं को देखते हैं। यदि किसी प्रकार शरीर से टकराने वाली किरणों को परावर्तित न होने दिया जाय, तो शरीर का न दीख पड़ना या अन्तर्धान होना घटित हो सकता है। शरीर के रूप में संयम करने से ऐसा ही कुछ घटित हुआ प्रतीत होता है।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥22॥

शब्दार्थ– [सोपक्रमम्] शीघ्र फल देने वाले [निरुपक्रमम् च] और देरी से फल देने वाले [कर्म] कर्म होते हैं, [तत्संयमात्] उन कर्मों में संयम करने से [अपरान्तज्ञानम्] मृत्यु-काल का ज्ञान हो जाता है, [अरिष्टेभ्यो वा] मृत्यु-ज्ञापक चिन्हों से भी मृत्यु-काल का ज्ञान होता है।

सूत्रार्थ– शीघ्र फल देने वाले और देरी से फल देने वाले दो प्रकार के कर्म होते हैं, उन कर्मों में संयम करने से योगी को मृत्यु-काल का ज्ञान हो जाता है तथा मृत्यु-ज्ञापक चिन्हों से भी मृत्यु-काल का ज्ञान होता है।

भावार्थ– आयु रूप फल देने वाले पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के कर्म दो प्रकार के होते हैं–शीघ्र फल देने वाले तथा देर से फल देने वाले। इन दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करने से योगी को मृत्यु-काल का निर्भ्रान्त ज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ मृत्यु-ज्ञापक चिन्हों

यथा अभ्यास होते हुए भी नासिकाग्र दिखाई न पड़ना, मरे हुए पुरुष सामने खड़े दिखाई पड़ना, आकाश के नक्षत्र-तारे आदि उलटे-पुलटे दिखाई पड़ना आदि के माध्यम से भी योगी को मृत्यु-काल का निर्भ्रान्त ज्ञान हो जाता है। इन लक्षणों का वर्णन आयुर्वेद में किया गया है। इन लक्षणों से तो योगी के अतिरिक्त अन्य साधारण मनुष्यों को भी मृत्यु-काल का ज्ञान हो सकता है, परन्तु उनको योगी के समान मृत्यु-काल का निभ्रान्त ज्ञान न होगा। वे इनके माध्यम से केवल इतना ही जान सकते हैं कि मृत्यु सन्निकट है।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥23॥

शब्दार्थ— [मैत्र्यादिषु] मैत्री आदि भावों में संयम करने से [बलानि] मैत्री आदि विषयक बल प्राप्त होते हैं।

सूत्रार्थ— मैत्री आदि भावों में संयम करने से योगी को तद्‌भावविषयक बल प्राप्त होते हैं।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥24॥

शब्दार्थ— [बलेषु] बलों में संयम करने से [हस्तिबलादीनि] हस्तिबल आदि बल प्राप्त हो जाते हैं।

सूत्रार्थ— बलों में संयम करने से योगी को हस्तिबल आदि सदृश बल प्राप्त हो जाते हैं।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥25॥

शब्दार्थ— [प्रवृत्त्यालोकन्यासात्] प्रवृत्त्यालोक का न्यास करने से [सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्] सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

सूत्रार्थ— सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ वस्तुओं को विषय बनाकर प्रवृत्त्यालोक का न्यास करने से योगी को सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ— समाधिपाद के 'विशोका वा ज्योतिष्मती' (1/36) सूत्र में ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। उसे ही यहाँ पर प्रवृत्ति-आलोक कहा गया है। इस प्रवृत्ति-आलोक को ज्ञातव्य विषय पर न्यस्त करने से उसका ज्ञान हो जाता है। वह ज्ञातव्य विषय चाहे कितना ही सूक्ष्म हो, चाहे पर्वत आदि से व्यवहित हो, चाहे अतिदूर हो, सभी का स्पष्ट ज्ञान होता है। यह भी ध्यातव्य है कि यह ज्ञान इन्द्रियप्रणालीजन्य ज्ञान के समान संकीर्ण नहीं होता।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥26॥

शब्दार्थ— [भुवनज्ञानम्] भुवनों अर्थात् लोक-लोकान्तरों का ज्ञान हो जाता है [सूर्ये

संयमात्] सूर्य-केन्द्र में संयम करने से।

सूत्रार्थ— शरीरस्थ सूर्य-केन्द्र में संयम करने से, योगी को लोक-लोकान्तरों का ज्ञान हो जाता है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥27॥

शब्दार्थ— [चन्द्रे] चन्द्र-केन्द्र में संयम करने से [ताराव्यूहज्ञानम्] तारों की स्थिति का ज्ञान हो जाता है।

सूत्रार्थ— शरीरस्थ चन्द्र-केन्द्र में संयम करने से, योगी को आकाशस्थ तारों की स्थिति का ज्ञान हो जाता है।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥28॥

शब्दार्थ— [ध्रुवे] ध्रुव-केन्द्र में संयम करने से [तद्गतिज्ञानम्] पूर्वसूत्रोक्त तारों की गति का ज्ञान होता है।

सूत्रार्थ— शरीरस्थ ध्रुव-केन्द्र में संयम करने से, योगी को पूर्वसूत्रोक्त आकाशस्थ तारों की गति का ज्ञान हो जाता है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥29॥

शब्दार्थ— [नाभिचक्रे] नाभि-चक्र में संयम करने से [कायव्यूहज्ञानम्] शरीर के अङ्गों की संरचना का ज्ञान हो जाता है।

सूत्रार्थ— शरीरस्थ नाभि-चक्र में संयम करने से, योगी को शरीर के अङ्गो की संरचना का ज्ञान हो जाता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥30॥

शब्दार्थ— [कण्ठकूपे] कण्ठकूप में संयम करने से [क्षुत्पिपासानिवृत्तिः] भूख-प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

सूत्रार्थ— शरीरस्थ कण्ठकूप में संयम करने से, योगी को लम्बे समय तक भूख-प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥31॥

शब्दार्थ— [कूर्मनाड्याम्] कूर्म नाड़ी में संयम करने से [स्थैर्यम्] स्थिरता प्राप्त होती है।

सूत्रार्थ— शरीरस्थ कूर्म-नाड़ी में संयम करने से, योगी को विशिष्ट स्थिरता की प्राप्ति होती है।

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥32॥

शब्दार्थ— [मूर्द्धज्योतिषि] मूर्द्धा-स्थित ज्योति में संयम करने से [सिद्धदर्शनम्] सिद्धों का दर्शन होता है।

सूत्रार्थ— मूर्द्धा-स्थित ज्योति में संयम करने से, साधक को सिद्धों के दर्शन होते हैं।

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥33॥

शब्दार्थ— [प्रतिभाद् वा] अथवा प्रातिभ ज्ञान से [सर्वम्] सब जान लेता है योगी।

सूत्रार्थ— प्रातिभ ज्ञान से भी योगी सब जान लेता है।

भावार्थ— इसी पाद के 52, 53, 54वें सूत्रों में 'विवेकज-ज्ञान' का उल्लेख किया गया है। विवेकज्ञानोदय का पूर्वरूप प्रातिभ-ज्ञान कहलाता है। यह ऐसे ही होता है, जैसे सूर्योदय से पूर्वकाल की प्रभा। इस प्रातिभ-ज्ञान का उदय होने से भी योगी पूर्वसूत्रों में वर्णित 'भुवनज्ञानम्' आदि को बिना किसी संयम के जान सकता है।

हृदये चित्तसवित् ॥34॥

शब्दार्थ— [हृदये] हृदय में संयम करने से [चित्तसंवित्] चित्त-संवेत्ता हो जाता है, योगी।

सूत्रार्थ— शरीरस्थ हृत्केन्द्र में संयम करने से, योगी चित्त-संवेत्ता हो जाता है।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥35॥

शब्दार्थ— [सत्त्वपुरुषयोः] चित्त और पुरुष जो कि [अत्यन्तासङ्कीर्णयोः] परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, उन दोनों में [प्रत्ययाविशेषः] अभेद प्रतीति है, वह [भोगः] 'भोग' है, [परार्थत्वात्] परार्थता होने से। [स्वार्थसंयमात्] तद्भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति (पौरुषेय प्रत्यय) है उसमें संयम करने से [पुरुषज्ञानम्] पुरुषज्ञान होता है।

सूत्रार्थ— चित्त और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, इन दोनों में अभेद प्रतीति भोग है। उस से भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति है अर्थात् पौरुषेय प्रत्यय है, उसमें संयम करने से साधक को पुरुष का ज्ञान होता है।

सूत्रभूमिका— पुरुष-ज्ञान स्वार्थ-संयम का आत्यन्तिक परिणाम है। पुरुष-ज्ञान रूप आत्यन्तिक परिणाम के उत्पन्न होने से पूर्व कुछ सिद्धियाँ आविर्भूत होती हैं। उन्हीं सिद्धियों का अग्रिम सुत्र में उल्लेख किया गया है।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शास्वादवार्त्ता जायन्ते ॥36॥

शब्दार्थ— [ततः] उस स्वार्थसंयम से [प्रातिभ-श्रावण-वेदना-आदर्श-आस्वाद-वार्ताः] प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद, वार्त्ता नामक सिद्धियाँ भी [जायन्ते] प्रकट होती हैं।

सूत्रार्थ— उस स्वार्थसंयम से प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद, वार्त्ता नामक सिद्धियाँ भी प्रकट होती हैं।

भावार्थ— इन प्रातिभ आदि सामर्थ्यों को शास्त्रों में निम्न प्रकार स्पष्ट किया गया है—

1. प्रातिभ सिद्धि अर्थात् साधक के मन में सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत व अनागत वस्तुओं के जानने की क्षमता पैदा हो जाती है।
2. श्रावण सिद्धि अर्थात् कानों में दिव्य और दूरस्थ शब्दों को सुनने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।
3. वेदना सिद्धि अर्थात् त्वचा में दिव्यस्पर्श को अनुभव करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।
4. आदर्श सिद्धि अर्थात् आँखों में दिव्यरूप देखने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।
5. आस्वाद सिद्धि अर्थात् जिह्वा में दिव्यरस जानने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।
6. वार्ता सिद्धि अर्थात् नासिका में दिव्यगन्ध सूँघने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥37॥

शब्दार्थ— [ते] वे प्रातिभ आदि पूर्वसूत्रोक्त सिद्धियाँ [समाधौ] समाधि में [उपसर्गाः] बाधक होती हैं; [व्युत्थान] व्युत्थान दशा में [सिद्धयः] सिद्धियाँ हैं।

सूत्रार्थ— वे प्रातिभ आदि पूर्वसूत्रोक्त सिद्धियाँ समाधि में बाधक होती हैं तथा व्युत्थान दशा में सिद्धियाँ हैं।

भावार्थ— पूर्वसूत्र में जिन प्रातिभ आदि सिद्धियों का वर्णन किया गया है, उनके विषय में सूत्रकार स्पष्ट कर रहे हैं कि वे प्रातिभ आदि सिद्धियाँ स्वार्थसंयम के आत्यन्तिक परिणाम पुरुषज्ञानात्मक समाधि की प्राप्ति में बाधास्वरूप हैं क्योंकि उनके निमित्त से पैदा होने वाले हर्ष, आश्चर्य आदि चित्त को सर्वथा समाहित नहीं होने देते। लेकिन इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि ये प्रातिभ आदि सिद्धियाँ सर्वथा महत्त्वहीन हैं। व्युत्थान दशा में ये विशेष फलदायी होती हैं क्योंकि इनका आविर्भाव हो जाने पर व्युत्थित चित्त एक सीमा तक सहज ही समाहित हो जाता है, लेकिन उससे उच्चस्तरीय समाहितता की प्राप्ति में ये बाधा स्वरूप बन जाती हैं। इस लिये इस सूत्र में इन्हें सिद्धिरूप तथा बाधारूप दोनों प्रकार से दिखाया गया है। इसे ठीक इसी

प्रकार समझना चाहिये—मानो हमें नदी पार के किसी गाँव में जाना है, तो नदी को पार करने के लिए प्रयोग की जाने वाली नौका एक सीमा तक ही हमारे गन्तव्य की ओर यात्रा करने में सहायता करती है। उसके बाद भी यदि हम उसी में बैठें रहें, तो वही बाधक भी बन जाती है।

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥38॥

शब्दार्थ— [बन्धकारणशैथिल्यात्] बन्ध कारण की शिथिलता से [प्रचारसंवेदनात् च] तथा चित्त-संचरण का मार्ग जान लेने से [चित्तस्य] चित्त का [परशरीरावेशः] परशरीर में प्रवेश हो जाता है।

सूत्रार्थ— बन्ध कारण की शिथिलता से तथा चित्त-संचरण का मार्ग जान लेने से चित्त का परशरीर में प्रवेश हो जाता है।

भावार्थ— आत्मा का चित्त के साथ तथा चित्त का शरीर के साथ एक प्रकार का घनीभूत तादात्मय बना हुआ है। चित्त का शरीर के साथ बना यह तादात्मय ही चित्त के शरीर से आबद्ध बने रहने का कारण है। धारणा, ध्यान आदि योगाङ्गों का सतत अनुष्ठान करने से चित्त का शरीर के साथ बना तादात्मय शिथिल हो जाता है, जिससे चित्त शरीराबद्धता से मुक्त-सा हो जाता है तथा समाधिजात अन्तर्दृष्टि के द्वारा योगी को नाड़ियों में चित्त के संचरण मार्ग का बोध हो जाता है। इन दो सामर्थ्यों के उपलब्ध हो जाने पर योगी अपने चित्त को किसी अन्य के शरीर में प्रवेश करा सकता है। ध्यातव्य है कि चित्त का अनुगमन करती हुई इन्द्रियाँ भी उसी शरीर में प्रविष्ट हो जाती हैं। आदिगुरु शंकराचार्य के द्वारा परशरीर में प्रवेश किये जाने की घटना का शास्त्रों में उल्लेख भी मिलता है।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्ति च ॥39॥

शब्दार्थ— [उदानजयात्] उदान नामक प्राण पर जय करने से, [जलपङ्ककण्टकादिषु] जल, कीचड़ तथा काँटे आदि में योगी [असङ्गः] अछूता रहता है [उत्क्रान्तिः च] तथा मरण समय ऊर्ध्व गति होती है।

सूत्रार्थ— 'उदान' नामक प्राण को जय करने से, योगी जल, कीचड़ तथा काँटे आदि से अनछुआ रहता है अर्थात् इनमें डूबता, धँसता और बिन्धता नहीं है तथा मरण समय में योगी को ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है।

भावार्थ— इस सृष्टि में सब कुछ प्रकृति के नियमों में बन्धा हुआ है, जैसे पक्षियों का आकाश में उड़ना आदि। यदि हम इन नियमों को जान लेते है, तो उन नियमों का पालन करते हुए हम अपने शरीर के माध्यम से भी वह सब कर सकते हैं। हमारे अन्दर सभी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ

प्राण के माध्यम से होती हैं। यह भी ध्यातव्य है कि प्राण आन्तरिक रूप से स्वतः चालित है। प्राण को उसके क्रिया-कलापों के आधार पर मुख्य रूप से पाँच भागों में बाँटा गया है– 1. प्राण, 2. अपान, 3. समान, 4. व्यान, 5. उदान। उदान प्राण की गति-विशेष की वजह से ही हम गुरुत्वाकर्षण से जुड़े रहते हैं। जब प्राण-साधना के द्वारा योगी उदान प्राण को जीत लेता है अर्थात् अपनी संकल्प-शक्ति के द्वारा उसके क्रिया-कलाप को प्रभावित करने की सामर्थ्य अर्जित कर लेता है, तो गुरुत्वाकर्षण के खिंचाव को शिथिल करना उसके लिए संभव हो जाता है, जिससे वह जल, कीचड़ तथा काँटे आदि से अछूता रहता है अर्थात् इनमें डूबता, धँसता और बिन्धता नहीं। द्वितीय यह कि आत्मिक रूप से हमारी उन्नतावस्था, निम्नावस्था के अनुसार ही मरण समय में हमारे प्राणों का ऊर्ध्व-अधोमार्गों से निस्सरण होता है। हमारी आत्मिक अवस्था जितनी-जितनी उच्च होती है, मरण समय में उतने-उतने ऊर्ध्व मार्गों से हमारे प्राणों का निस्सरण होता है। उदान प्राण को जीत लेने पर योगी की आत्मिक अवस्था इतनी उच्च हो जाती है कि मृत्यु के समय ब्रह्मरन्ध्र आदि ऊर्ध्वमार्गों से प्राण निकलते हैं।

समानजयाज्ज्वलनम् ॥40॥

शब्दार्थ– [समानजयात्] समान नामक प्राण पर जय करने से [ज्वलनम्] ज्वलन सदृश शारीरिक दीप्ति प्राप्त होती है।

सूत्रार्थ– 'समान' नामक प्राण पर संयम करने से, योगी को ज्वलन सदृश शारीरिक दीप्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ– खान-पान के रस को सम्पूर्ण शरीर में अपने-अपने स्थान पर पहुँचाने का कार्य समान प्राण के द्वारा किया जाता है। सभी प्राण स्वतः चालित हैं, लेकिन प्राण-साधना के द्वारा समान प्राण की कार्य-शैली को समझकर, संकल्प शक्ति के द्वारा उसे प्रभावित किया जा सकता है। मेरी समझ में यही समान-प्राण को जीतना है। समान प्राण को जीत लेने पर योगी को जलती हुई अग्नि जैसी तेजोमय शारीरिक दीप्ति प्राप्त होती है, ऐसा ऋषि कोटि के भाष्यकारों का अभिमत है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥41॥

शब्दार्थ– [श्रोत्र-आकाशयोः] श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश के [सम्बन्धसंयमात्] सम्बन्ध में संयम करने से [दिव्यं श्रोत्रम्] श्रोत्र-इन्द्रिय दिव्य हो जाती है।

सूत्रार्थ– श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से, योगी की श्रोत्रेन्द्रिय दिव्य हो जाती है।

भावार्थ— शब्द वाणी के माध्यम से प्रकट होता है, आकाश में रहता है और श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से, योगी की श्रोत्रेन्द्रिय में दिव्यता आ जाती है, जिससे वह दिव्य, सूक्ष्म, व्यवहित व दूरस्थ शब्दों को सहजता से सुनने लगता है, ऐसा ऋषि कोटि के भाष्यकारों का मानना है।

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लधुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥42॥

शब्दार्थ— [काया-आकाशयोः] देह और आकाश के [संबन्धसंयमात्] संबन्ध में संयम करने से, [लघुतूलसमापत्तेः च] और हल्के रुई सदृश पदार्थ में समापत्ति करने से (आकाशगमनम्) आकाश में गमन करना घटित होता है।

सूत्रार्थ— देह और आकाश के संबन्ध में संयम करने से तथा हल्के रुई सदृश पदार्थ में समापत्ति करने से, योगी का आकाश में गमन करना घटित होता है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥43॥

शब्दार्थ— [बहिः] शरीर के बाहर [अकल्पिता वृत्तिः] अकल्पित वृत्ति [महाविदेहा] महाविदेहा कहलाती है [ततः] उसकी उपलब्धि से [प्रकाशावरणक्षयः] प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है।

सूत्रार्थ— शरीर के बाहर अकल्पित वृत्ति 'महाविदेहा' कहलाती है। उस महाविदेहावृत्तिलाभ से प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥44॥

शब्दार्थ— [स्थूल-स्वरूप-सूक्ष्म-अन्व्य-अर्थवत्त्वसंयमात्] स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व में संयम करने से [भूतजयः] भूतों पर जय प्राप्त होती है।

सूत्रार्थ— स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व में संयम करने से, योगी को भूतों पर जय प्राप्त होती है।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्माऽनभिघातश्च ॥45॥

शब्दार्थ— [ततः] उस भूतजय से [अणिमादिप्रादुर्भावः] अणिमा आदि सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है [कायसम्पत्] कायसम्पत् की प्राप्ति होती है, [तद्धर्माऽनभिघातः च] और भूतों के धर्मों से योगी की क्रियाओं में कोई रुकावट नहीं होती।

सूत्रार्थ— उस भूतजय से अणिमा आदि सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है, कायसम्पत् की प्राप्ति होती है और भूतों के धर्मों से योगी की क्रियाओं में कोई रुकावट नहीं होती।

जिज्ञासा— 'कायसम्पत्' किसे कहते हैं?

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पद् ॥46॥

शब्दार्थ— [रूप-लावण्य-बल-वज्रसंहननत्वानि] रूप, लावण्य, बल, वज्र के समान दृढ़ बनावट [कायसम्पद्] कायसम्पत् कहलाती हैं।
सूत्रार्थ— रूप, लावण्य, बल, वज्र के सदृश दृढ़ बनावट ये 'कायसम्पत्' कहलाती हैं।

ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयार्थत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥47॥

शब्दार्थ— [ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्यवार्थवत्त्वसंयमात्] ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व में संयम करने से [इन्द्रियजयः] इन्द्रियजय सामर्थ्य प्राप्त होती है।
सूत्रार्थ— ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व में संयम करने से, योगी को इन्द्रियजय सामर्थ्य प्राप्त होती है।

ततो मनोजवित्त्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥48॥

शब्दार्थ— [ततः] उस इन्द्रियजय से [मनोजवित्त्वम्] मन के समान वेगवाला हो जाना [विकरणभावः] देह के बिना इन्द्रियों का विषय-ग्रहण सामर्थ्य [प्रधानजयः च] और प्रधानजय अर्थात् प्रकृति के सब विकारों पर वशीकरण रूप सामर्थ्य प्राप्त होती है।
सूत्रार्थ— उस इन्द्रियजय से योगी को मन के समान वेगवाला हो जाना, देह के बिना इन्द्रियों का विषय-ग्रहण सामर्थ्य तथा प्रकृति के सब विकारों पर वशीकरण रूप सामर्थ्य प्राप्त होती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठांतृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥49॥

शब्दार्थ— [सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य] बुद्धि और पुरुष के भेद का साक्षात्कार कर लेने वाले योगी का [सर्वभावाधिष्ठातृत्वं] सब भावों के प्रति प्रशासकत्व [सर्वज्ञातृत्वं च] और समस्त व्यवहारों के प्रति ज्ञातृत्व हो जाता है।
सूत्रार्थ— बुद्धि और पुरुष के भेद का साक्षात्कार कर लेने वाले योगी का सब भावों के प्रति प्रशासकत्व और समस्त व्यवहारों के प्रति ज्ञातृत्व हो जाता है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥50॥

शब्दार्थ— [तद्वैराग्यात् अपि] उस पूर्वसूत्रोक्त विवेकख्याति की अवस्था से वैराग्य हो जाने से भी [दोषबीजक्षये] दोषों के बीजों का क्षय हो जाने से [कैवल्यम्] कैवल्य हो जाता है।

सूत्रार्थ— उस पूर्वसूत्रोक्त विवेकख्याति की अवस्था से वैराग्य हो जाने से भी, दोषों के बीजों का क्षय हो जाने से 'कैवल्य' हो जाता है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥51॥

शब्दार्थ— [स्थान्युपनिमन्त्रणे] स्थानधारियों द्वारा सादर आमन्त्रित करने पर, योगी को [सङ्गस्मयाकरणम्] सङ्ग=लगाव और स्मय=अभिमान नहीं करना चाहिये, [पुनः अनिष्टप्रसंगात्] फिर अनिष्ट के प्रंसग से।

सूत्रार्थ— स्थानधारियों द्वारा सादर आमन्त्रित करने पर, योगी को सङ्ग=लगाव और स्मय=अभिमान नहीं करना चाहिये, फिर अनिष्ट के प्रंसग से।

भावार्थ— जब कोई व्यक्ति योगाभ्यास करता है, तो उसके अन्तःकरण में व व्यक्तित्व में एक प्रकार का आकर्षक रूपान्तरण स्वतः ही घटित होने लगता है, जिससे उसके सम्पर्क में आने वाले लोग उसे बहुत आदर प्रदान करने लगते हैं तथा ऐसा चाहते हैं कि इस योगाभ्यासी व हमारा अधिकतम सम्पर्क रहे। वे उसके पास बार-2 आते हैं तथा उसे बार-2 स्व-स्थान पर आने के लिए आमन्त्रित भी करते हैं। इस अवस्था वाले योगाभ्यासियों को सूत्रकार सावधान कर रहे हैं कि अभ्यासी को इन व्यक्तियों से ज्यादा लगाव नहीं बनाना चाहिये क्योंकि ज्यादा लगाव अभ्यासी को फिर सांसारिक ढर्रे पर खींच लाता है। द्वितीय ज्यादा मेल-जोल बढ़ जाने पर दिनचर्या भी बाधित होने लगती है।

आदमी का स्वभाव भी बड़ा अजीब है कि वह अभिमान न करने योग्य चीजों का भी अभिमान कर लेता है। वह धन को इकट्ठा करके धनी होने का अभिमान कर लेता है और उसी धन को छोड़ कर त्यागी होने का अहंकार पाल लेता है। मानो आदमी को अहंकार पाल लेने की नैसर्गिक बीमारी हो। पतञ्जलि आदमी के इस आत्मघाती स्वभाव को जानते हैं इसीलिये योगाभ्यासी को सावधान करते हुए कह रहे हैं कि उसे लोगों का सङ्ग न करने का, उनसे रागात्मक संबन्ध न बनाने का स्मय अर्थात् अभिमान भी नही करना चाहिये क्योंकि अहंकार देर-सबेर आदमी को संसार में खींच ही ले जाता है।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम्।।52।।

शब्दार्थ– [क्षणतत्क्रमयोः संयमात्] क्षण और उसके क्रम में संयम करने से [विवेकजम् ज्ञानम्] विवेकज ज्ञान प्राप्त होता है।

सूत्रार्थ– क्षण और उसके क्रम में संयम करने से, योगी को 'विवेकज ज्ञान' प्राप्त होता है।

जिज्ञासा– 'विवेकज-ज्ञान' का स्वरूप क्या है?

जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेताद् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥53॥
तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥54॥

शब्दार्थ– [जातिलक्षणदेशैः] जाति, लक्षण और देश से [अन्यताऽनवच्छेदात्] भेद का निश्चय न होने के कारण [तुल्ययोः] समान प्रतीत होने वाले दो पदार्थों का [ततः] उस विवेकजज्ञान से [प्रतिपत्तिः] निश्चय हो जाता है। [तारकम्] बिना किसी निमित्त के अपनी प्रतिभा से स्वतः उत्पन्न होने वाला अर्थात् अनौपदेशिक [सर्वविषयम्] सूक्ष्म-स्थूल, व्यवहित-अव्यवहित आदि सब पदार्थों को विषय बनाने वाला, [सर्वथाविषयम्] पदार्थों के अतीत, अनागत आदि रूपों को विषय बनाने वाला [अक्रमम् च इति] और क्रमिकता से रहित होता है, [विवेकजं ज्ञानम्] विवेकज ज्ञान।

सूत्रार्थ– किन्हीं भी दो पदार्थों में भेद का निश्चय जाति, लक्षण और देश के आधार पर किया जाता है, जैसे—एक स्थान पर समान लक्षण वाली अर्थात् काले रंग की ही गाय और काले रंग की ही भैंस हों, तो वहाँ पर उनमें भेद का निश्चय जाति के आधार पर होगा अर्थात् गो-जाति, भैंस-जाति के आधार पर होगा। जाति और देश समान होने पर जैसे एक काली गाय और एक सफेद गाय हो, तो वहाँ पर भेद का निश्चय लक्षण के आधार पर होगा अर्थात् काले व सफेद रंग के आधार पर होगा। जाति और लक्षण समान होने पर जैसे दो समान आकार-प्रकार के आँवले रक्खें हुए हो तो वहाँ पर भेद का निश्चय देश के आधार पर होगा अर्थात् यह पूर्वदेश वाला आँवला है, यह उत्तरदेश वाला आँवला है, इस प्रकार भेद का निश्चय किया जायेगा। परन्तु यदि कोई व्यक्ति हमसे छिपाकर, समान जाति और लक्षण वाले उन आँवलों का स्थान आपस में बदल दे, तो हम उनमें भेद नही कर पायेंगे। लेकिन विवेकज ज्ञान को उपलब्ध योगी उनके पूर्वदेशीय, उत्तदेशीय होने का सुगमता से निश्चय कर सकता है।

जहाँ तक यह प्रश्न है कि योगी इसका निश्चय कैसे करेगा? तो उसका उत्तर यह है कि पूर्वदेशीय आँवले के क्षणसहित देश से उत्तरदेशीय आँवले का क्षणसहित देश भिन्न है, उसी

के आधार पर विवेकजज्ञानसम्पन्न योगी उनके भेद का निर्णय करता है। विवेकज ज्ञान अपनी प्रतिभा से स्वयमेव उत्पन्न होने वाला अर्थात् अनौपदेशिक होता है, सब सूक्ष्म-स्थूल, व्यवहित-अव्यवहित पदार्थों व उनके अतीत-अनागत आदि रूपों को विषय बनाने वाला तथा क्रमरहित अर्थात् एक साथ होता है। ऐसा शास्त्रों में ऋषि कोटि के व्यक्तियों के नाम से लिखा मिलता है।

जिज्ञासा— 'कैवल्य' का क्या स्वरूप है?

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥55॥

शब्दार्थ— [सत्त्व-पुरुषयोः] बुद्धि और पुरुष में [शुद्धिसाम्ये] शुद्धि की समानता-सी हो जाने पर [कैवल्यम्] कैवल्य हो जाता है, [इति] ऐसा समझना चाहिये।

सूत्रार्थ— बुद्धि और पुरुष के मध्य शुद्धि की समानता-सी हो जाने पर कैवल्य होता है, ऐसा समझना चाहिये।

कैवल्यपादः

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥1॥

शब्दार्थ— [जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः] जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि के माध्यम से उत्पन्न होती हैं [सिद्धयः] सिद्धियाँ।

सूत्रार्थ— सिद्धियाँ जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि के माध्यम से उत्पन्न होती हैं।

भावार्थ— शरीर, इन्द्रियों तथा चित्त में उत्पन्न हुई क्षमताविशेष ही 'सिद्धि' कहलाती है। इस सूत्र में सूत्रकार बता रहे हैं कि सिद्धि नामाभिधायी ये क्षमताविशेषें जन्मतः भी हो सकती हैं तथा ओषधि, मन्त्र, तप तथा योगाङ्गों के सतत अनुष्ठान के द्वारा आविर्भूत होने वाली समाधि-अवस्था के द्वारा भी प्रादुर्भूत हो सकती हैं। इन सभी माध्यमों के माध्यम से उत्पन्न होने वाली समाधियों के विषय में इतना विशेष है कि जन्मना सभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती, कोई एक-दो प्राप्त होती हैं तथा औषधि, मन्त्र और तप के माध्यम से भी सभी सिद्धियाँ प्राप्त नहीं की जा सकती, बहुत न्यून सिद्धियाँ इन माध्यमों से अर्जित की जा सकती हैं। हाँ, योगाङ्गों के सतत अनुष्ठान के द्वारा आविर्भूत होने वाली समाधि-अवस्था के माध्यम से विभूति पाद में वर्णित सभी सिद्धियों को प्राप्त किया जा सकता है। जन्मतः तथा औषधि आदि के माध्यम से प्राप्त होने वाली सिद्धियों को थोड़ा विस्तार से नीचे स्पष्ट किया जाता है—

१. जन्मतः प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ— कुछ व्यक्तियों को जन्मतः ही दूर-दृष्टि, परचित्तस्थ बात को जान लेने आदि की क्षमता प्राप्त होती हैं। जन्मतः ही प्राप्त होने वाली इस प्रकार की सिद्धियों के पीछे क्या कारण है? यह तो पृथक् विवेचना का विषय है, लेकिन इतना तो सीधे-सीधे स्पष्ट है ही कि योगाभ्यास इनका कारण नहीं है। हो सकता है कि पूर्वजन्म में किया गया योगाभ्यास इनका कारण हो।

२. औषधियों के माध्यम से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ— आयुर्वेद आदि औषध शास्त्रों में इस प्रकार की अनेकों औषधियों का उल्लेख है, जिनके विधिवत् उपयोग के द्वारा शरीर का पुनः युवा हो जाता है तथा नेत्र, श्रोत्र आदि में दूर-दर्शन, दूर-श्रवण आदि विलक्षण क्षमताएँ आविर्भूत हो जाती हैं। इस प्रकार की विलक्षण क्षमताएँ ही योगदर्शन की भाषा में 'सिद्धि' कहलाती हैं।

३. मन्त्र के माध्यम से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ— एकाग्रता-विशेष के सम्पादक कुछ

मन्त्र-विशेषों का जप करने से भी प्रयोक्ता की इच्छाशक्ति प्रबल होकर मन आदि में किसी को सम्मोहित करके स्वनिर्दिष्ट कार्य करा लेने, उसके मन की बात जान लेने आदि की विलक्षण क्षमताएँ आविर्भूत हो जाती हैं। इस प्रकार की क्षमता-विशेषों अर्थात् सिद्धियों को मन्त्रों के माध्यम से प्राप्त होने सिद्धियाँ समझनी चाहिये। मन्त्र के माध्यम से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ चिरस्थायी नहीं होती, ऐसा प्रतीत होता है। जहाँ तक यह जिज्ञासा है कि वे मन्त्र-विशेष कौन-से हैं ? तो वह पृथक् विवेचना का विषय है।

४. तप-अनुष्ठान के द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ— उत्कट तपस्या के द्वारा भी तपस्वी की इच्छाशक्ति प्रबल होकर पूर्वोक्त मन्त्रसिद्धियों सदृश सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, लेकिन ये भी मन्त्रसिद्धियों की तरह ही चिरस्थायी प्रतीत नहीं होती।

५. समाधि के द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ— यम-नियम आदि योगाङ्गों का सतत अनुष्ठान करने से साधक को ध्येयवस्तुविषयक गहनतम एकाग्रता की क्षमता प्राप्त होती है। इस क्षमता को अर्जित करके शरीर के स्थान-विशेषों में ध्यान करने से साधक को दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, शरीर को अन्तर्धान कर लेना आदि की विलक्षण क्षमताएँ प्राप्त होती हैं। विभूतिपाद में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। इस प्रकार प्राप्त होने सिद्धियों को समाधि के द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ समझना चाहिये। जहाँ तक इस प्रकार होने वाली सिद्धियों की स्थिरता का प्रश्न है, यह तो इनके विषय में भी नहीं कहा जा सकता है कि ये प्राप्त तो जाने के बाद मृत्युपर्यन्त स्थिर रहेंगी लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि अन्य माध्यमों के द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियों की अपेक्षा चिरस्थायी होती हैं, यह निश्चित है।

जिज्ञासा— साधना के द्वारा शरीर, इन्द्रियाँ व मन विलक्षण क्षमताओं से युक्त हो जाते हैं या यों कह सकते हैं कि मनुष्येतरजातीय ही हो जाते हैं। ऐसा कैसे घटित होता है ?

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥2॥

शब्दार्थ— [जात्यन्तपरिणामः] शरीर, इन्द्रियों आदि का विलक्षण क्षमताओं से युक्त होकर भिन्नजातीय-सा हो जाना [प्रकृत्यापूरात्] प्रकृति अर्थात् उपादान कारणों की अपेक्षित पूर्ति से होता है।

सूत्रार्थ— शरीर, इन्द्रियों आदि का विलक्षण क्षमताओं से युक्त होकर भिन्नजातीय-सा हो जाना, प्रकृति अर्थात् उपादान कारणों की अपेक्षित पूर्ति से होता है।

भावार्थ— साधना के द्वारा शरीर, इन्द्रियाँ व मन विलक्षण क्षमताओं से युक्त हो जाते हैं,

जैसे-शरीर में अन्तर्धान होने की क्षमता का आ जाना, इन्द्रियों में दूर-दर्शन, दूर-श्रवण आदि की क्षमता का आ जाना तथा मन में दूर के मन की बात जानने की क्षमता का आ जाना इत्यादि। इस प्रकार की क्षमताएँ मनुष्यजातीय नहीं कही जा सकती क्योंकि इस प्रकार की क्षमताएँ मनुष्यों में नहीं देखी जाती। दूर-दर्शन गिद्ध जातीय पक्षियों में देखा जाता है तथा दूर-श्रवण कुत्ता, चमगादड़ आदि में देखा जाता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि मानों साधक की दर्शनेन्द्रिय गिद्ध-जातीय हो गयी हो तथा श्रवणेन्द्रिय चमगादड़ आदि पक्षी-जातीय हो गयी हो। साधकों के शरीर, इन्द्रिय व चित्त में घटित हुई इन क्षमताओं को देखने पर इनका तत्त्वभूतकारण जानने की इच्छा होती है। इनके तत्त्वभूत कारण को उद्घाटित करते हुए ही इस सूत्र में कहा गया है कि ऐसा शरीर, इन्द्रिय व चित्त में अपेक्षित कारणों की अपेक्षित पूर्ति हो जाने से घटित होता है।

यह हम सभी जानते हैं कि शरीर, इन्द्रियाँ व चित्त आदि सभी चीजें सत्त्व, रजस् व तमस् गुण के परिणाम हैं तथा भिन्नजातीय इन्द्रियों आदि में सत्त्व, रजस्, तमस् का आनुपातिक अन्तरमात्र है। स्थूलरूप में इसे हम इस तरह समझ सकते हैं कि जिसकी दर्शनेन्द्रिय में सत्त्वुण की अधिकता है, उसकी दर्शन-क्षमता अधिक हो जायेगी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि साधना के द्वारा शरीर, इन्द्रियों व चित्त में जो सिद्धि रूप क्षमताएँ विशेष उत्पन्न होती हैं, उनका आविर्भाव शरीर, इन्द्रिय व चित्त में तद्क्षमताविषयक कारण अर्थात् सत्त्व आदि गुण की अपेक्षित पूर्ति हो जाने से होता है।

जिज्ञासा– सिद्धियों को निमित्त योगाङ्गों का अनुष्ठान पूर्वसूत्रोक्त उपादान तत्त्वों की आपूर्ति का प्रयोजक अर्थात् प्रेरक है या आपूर्ति की बाधा का निवारण मात्र करने वाला है ?

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥3॥

शब्दार्थ– [निमित्तम्] सिद्धियों का निमित्त अर्थात् योगाङ्गों का अनुष्ठान [अप्रयोजकम् प्रकृतीनाम्] प्रयोजक अर्थात् प्रेरक नहीं है उपादान तत्त्वों की आपूर्ति का, [वरणभेदः तु ततः] बाधा का निवारण तो होता है, उस योगाङ्गानुष्ठान से, [क्षेत्रिकवत्] किसान के समान।

सूत्रार्थ– सिद्धियों का निमित्त अर्थात् योगाङ्गों का अनुष्ठान उपादान तत्त्वों की आपूर्ति का प्रयोजक अर्थात् प्रेरक नहीं है, बल्कि उस योगाङ्गानुष्ठान के द्वारा आपूर्तिविषयक बाधा का निवारण तो होता है, किसान के समान।

भावार्थ– ध्यान, धारणा आदि योगाङ्गों के अनुष्ठान के द्वारा परचित्तज्ञान आदि सिद्धियों का होना साक्षात् देखा जाता है। इससे योगाङ्गानुष्ठान की सिद्धियों के आविर्भाव में निमित्तता सिद्ध

है। पूर्वसूत्र में बताया गया है कि सिद्धियों का आविर्भाव तत्सम्बन्धी करण में उपादान तत्त्वों की अपेक्षित पूर्ति हो जाने से होता है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि सिद्धियों का निमित्त योगाङ्गानुष्ठान सिद्धिसम्बन्धी करण में अपेक्षित आपूर्ति प्रायोजित करता है या वह आपूरण में बनी रही रुकावट का निराकरणमात्र करता है? इसका उत्तर सूत्रकार ने दिया है कि आपूरण में बन रही रुकावटों का निराकरणमात्र करता है, किसान के समान। कैसे? जैसे किसान को खेत की जिस क्यारी में पानी देना होता है, वह उस खेत की मेड़ को एक जगह से थोड़ा तोड़ देता है, जिससे पीछे से प्रवाहमान पानी उस क्यारी में स्वतः ही भर जाता है। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी योगाङ्गानुष्ठान उपादान तत्त्वों की आपूर्ति में बनी रजोगुण, तमोगुण आदि की बाधाओं को हटा मात्र देता है, उनके हट जाने से उपादान तत्त्वों का करणों में आपूरण स्वतः ही हो जाता है।

सूत्रभूमिका– हर विषय के विज्ञान की प्रारम्भिक व उच्चशिखरीय अवस्थाएँ होती हैं। जब रेड़ियो, टेपरिकार्डर आदि का आविष्कार हुआ, वह इलैक्ट्रोनिकी के विकास की आरम्भिक अवस्था थी, आज जब सेटेलाइट से जुड़े सुपर-कम्प्यूटर आदि का आविष्कार हो चुका है, यह इलैक्ट्रोनिकी के विकास की उच्चशिखरीय अवस्था है। जब रेडियो मात्र का आविष्कार हुआ था, उस काल में यदि किसी पुस्तक में सेटेलाइट से जुड़े सुपर-कम्प्यूटर, इन्टरनेट आदि विषयक कोई वर्णन किसी पुस्तक में लिखा मिले, तो उसे न तो सत्य कहा जा सकता है और न ही असत्य। बिल्कुल ऐसी ही स्थिति आज योगविज्ञान की है, योग की गवेषणा करने वाले व्यक्ति योग की अभी आरम्भिक सीढ़ियों पर खड़े हैं और योगदर्शन जैसी पुस्तकों में- "योगी स्वसामर्थ्य से अनेक शरीरों का निर्माण कर लेता है" सदृश बातें उल्लिखित देखकर बुद्धि विमूढ़-सी हो जाती है। इस विषय में न तो स्वीकार करते बनता है और न ही अस्वीकार करते। अधोलिखित दो सूत्रों में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है इसलिये उनका केवल अर्थमात्र लिखकर छोड़ दिया जाता है।

जिज्ञासा– जब योगी अपनी सिद्धि के बल से अनेक शरीरों का निर्माण करता है, तो वे शरीर अचित्त होते हैं या सचित्त? यदि सचित्त होते हैं तो योगी उन शरीरों के चित्तों को किस उपादान तत्त्व से बनाता है?

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥4॥

शब्दार्थ– [निर्माणचित्तानि] निर्माण किये हुए चित्त [अस्मितामात्रात्] अस्मितामात्र से निर्मित

होते हैं।

सूत्रार्थ— निर्माण किये हुए चित्त अस्मिता से निर्मित होते हैं।

भावार्थ— भाव यह है कि जब योगी अनेक शरीरों का निर्माण करता है, तो उन शरीरों के चित्तों को अस्मितामात्र से बनाता है।

जिज्ञासा— उन अनेक शरीरों के द्वारा की जानी प्रवृत्तियों में भिन्नता कैसे संभव होती है?

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।।5।।

शब्दार्थ— [प्रवृत्तिभेदे] प्रवृत्ति के भेद में [प्रयोजकम्] नियामक होता है [चित्तम् एकम्] एक चित्त [अनेकेषाम्] अनेकों का।

सूत्रार्थ— प्रवृत्ति के भेद में एक चित्त, अनेक चित्तों का नियामक होता है।

भावार्थ— भाव यह है कि उन अनेक शरीरों के द्वारा सम्पन्न की जाने वाली भिन्न-2 प्रवृत्तियों को सम्पादित करने के लिए योगी उन निर्माण किये हुए चित्तों के नियामक के रूप में एक अन्य चित्त का निर्माण करता है। यदि कोई कहे कि एक चित्त के द्वारा, उन अनेक चित्तों का नियमन कैसे किया जा सकता है? प्रत्येक चित्त का नियामक चित्त भी पृथक्-2 होना चाहिये। इसका समाधान यह है कि जैसे हमारे शरीर में वर्तमान एक ही चित्त पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और पाँचों कर्मेन्द्रियों का नियमन करता है, उसी प्रकार वहाँ पर भी एक ही चित्त अनेक चित्तों का नियमन कर सकता है, नियामक के रूप में अनेक चित्तों का निर्माण करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

सङ्गति— पाद के आरम्भ में ही जन्म, औषधि, मन्त्र, तप तथा समाधि के द्वारा सामर्थ्यविशेषों की प्राप्ति की बात कही गयी है। ऐसी दशा में स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा होती है कि जन्म, मन्त्र आदि के द्वारा सामर्थ्यवान् हुए चित्तों में क्या कोई भिन्नता होती है? अगले सूत्र में इसी जिज्ञासा का निराकरण किया गया है।

तत्र ध्यानजमनाशयम्।।6।।

शब्दार्थ— [तत्र] उन चित्तों में [ध्यानजम् अनाशयम्] ध्यान प्रक्रिया के द्वारा सामर्थ्यवान् हुआ चित्त वासनारहित होता है।

सूत्रार्थ— जन्म आदि द्वारा सामर्थ्यवान् हुए चित्तों में ध्यानप्रक्रिया के द्वारा अर्थात् समाधि के द्वारा सामर्थ्यवान हुआ चित्त वासनाओं से रहित होता है।

भावार्थ— भाव यह है कि जन्म, औषधि, मन्त्र तथा तप के माध्यम से सामर्थ्यवान् हुए चित्त वासनायुक्त होते हैं तथा समाधि के द्वारा सामर्थ्यवान् हुआ चित्त वासनाओं से रहित होता है। यही उन चित्तों के मध्य एक मौलिक भेद होता है।

जिज्ञासा— कर्म कितने प्रकार के होते हैं?

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥7॥

शब्दार्थ— [कर्म शुक्लाकृष्णम्] कर्म पाप-पुण्य से रहित होता है [योगिनः] योगी का, [त्रिविधम् इतरेषाम्] तीन प्रकार का होता है अन्य अयोगी व्यक्तियों का।

सूत्रार्थ— योगी का कर्म पाप-पुण्य से रहित होता है तथा अन्य अयोगी व्यक्तियों का क्रम पुण्यात्मक, अपुण्यात्मक व पुण्य-पापात्मक इन तीन प्रकार का होता है।

भावार्थ— कर्म चार प्रकार के होते हैं— 1. शुक्ल 2. कृष्ण 3. शुक्लकृष्ण 4. अशुक्लाकृष्ण। सुबोध के लिए इन्हें नीचे क्रमशः स्पष्ट किया जाता है—

1. शुक्ल कर्म— शुक्ल कर्म, वे कर्म कहलाते हैं, जो कि दूसरों को किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचायें बिना ही हमको सुख-शान्ति प्रदान करने वाले हों। यथा—अहिंसा, तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि। इन्हीं कर्मों को 'पुण्य कर्म' भी कहा जाता है। कर्ता को इन कर्मों का सुख रूप फल मिलता है।

2. कृष्ण कर्म— कृष्ण कर्म, वे कर्म कहलाते हैं, जो कि दूसरों को पीड़ा प्रदान करने वाले हों तथा आत्यन्तिकरूप से हमारे चित्त को भी अशान्त करने वाले हों। यथा— हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि। इन्हीं कर्मों को 'अपुण्य कर्म' व 'पाप कर्म' भी कहा जाता है। कर्ता को इन कर्मों का दुःख रूप फल मिलता है।

3. शुक्लकृष्ण कर्म— शुक्लकृष्ण कर्म, वे कर्म कहलाते हैं, जो कि किन्हीं को सुख पहुँचाने वाले हों और किन्हीं को पीड़ा पहुँचाने वाले हों। यथा— खेती का काम, पशुपालन का काम तथा अन्य सभी प्रकार के व्यापार-कार्य। इन्हीं कर्मों को 'पुण्य-पापात्मक कर्म' व 'मिश्रित कर्म' भी कहा जाता है। कर्ता को इन कर्मों के सुखात्मक अंश का सुख रूप तथा दुःखात्मक अंश का दुःख रूप फल मिलता है।

संसार में सांसारिक ढर्रे से जीते हुए सभी सांसारिक व्यक्तियों के सभी कर्म इन तीन विभागों के अन्दर परिगणित हो जाते हैं। इसी भाव को सूत्र में 'त्रिविधमितरेषाम्' शब्दों के द्वारा कहा गया है।

4. अशुक्लाकृष्ण कर्म— जीवनमुक्त योगी पुरुषों के कर्म 'अशुक्लाकृष्ण' या 'अपुण्यापापात्मक' कहलाते हैं। योगी के कर्मों के लिए 'अपापात्मक' शब्द विशेषण के रूप में प्रयोग किया गया है, कर्मों के पापात्मक न होने से क्योंकि पापात्मक कर्मों का योगी स्वेच्छा से त्याग कर देता है। योगी के कर्मों के लिए 'अपुण्यात्मक' शब्द भी विशेषण के रूप में प्रयोग किया गया है, कर्मों

के सर्वथा पुण्य सदृश न होने से क्योंकि योगी फल की आकांक्षा से मुक्त होकर कर्म करता है।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥8॥

शब्दार्थ– [ततः]उस त्रिविध कर्मों से [तद्विपाकानुगुणानाम् एव]उन कर्मों के विपाक के अनुरूप ही [अभिव्यक्तिः] प्रकटीकरण होता है [वासनानाम्]वासनाओं का।

सूत्रार्थ– उस त्रिविध कर्मों से उनके विपाक के अनुरूप ही वासनाओं का प्रकटीकरण होता है।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥9॥

शब्दार्थ– [जातिदेशकालव्यवहितानाम् अपि] जाति, देश और काल से व्यवहित वासनाओं का भी [आनन्तर्यम्] सामीप्य है, [स्मृति-संस्कारयोः] स्मृति और संस्कारों की [एकरूपत्वात्] एकरूपता होने से।

सूत्रार्थ– जाति, देश और काल से व्यवहित वासनाओं का परस्पर सामीप्य है, स्मृति और संस्कारों की एकरूपता होने से।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥10॥

शब्दार्थ– [तासाम्] उन वासनाओं का [अनादित्वम् च] अनादित्व भी है, [आशिषः] जीवन की आकांक्षा के [नित्यत्वात्] नित्य होने से।

सूत्रार्थ– उन वासनाओं का अनादित्व ही मानना चाहिये, जीवन की आकांक्षा के नित्य होने से।

भावार्थ– वासनाओं के अनुरूप जन्म होता है तथा जन्मगत कर्मों के अनुरूप वासना बनती है। इस प्रकार वासना जन्म का कारण है। प्रश्न उठता है कि जीव को सर्वप्रथम जन्म देने वाली वासना कहाँ से आयी ? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कह रहे हैं कि जीवन की आकांक्षा के नित्य बनी रहने से, जीवन की हेतु ये वासनायें भी अनादि माननी चाहियें।

जिज्ञासा– उन वासनाओं का नाश कैसे होता है ?

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्त्वादेषामभावे तदभावः ॥11॥

शब्दार्थ– [हेतुफलाश्रयालम्बनैः] हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के माध्यम से [संगृहीतत्वात्] इकट्ठी होने से [एषाम् अभावे] इन हेतु-फल आदि कारणों का अभाव हो जाने पर [तदभावः] उन वासनाओं का भी अभाव हो जाता है।

सूत्रार्थ– हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के माध्यम से इकट्ठी होने से, इन हेतु-फल आदि कारणों का अभाव हो जाने पर, उन वासनाओं का भी अभाव हो जाता है।

भावार्थ— 1. हेतु— सभी वासनाएँ अविद्या आदि क्लेश तथा फल की आकांक्षा से युक्त होकर कर्म करने से संगृहीत होती हैं इसलिए अविद्या आदि क्लेश तथा सभी प्रकार के सकाम कर्म वासनाओं के 'हेतु' या 'कारण' हैं।

2. फल— जाति, आयु और भोग के रूप में मिलने वाला कर्मफल वासनाओं का 'फल' है।

3. आश्रय— साधिकार चित्त ही वासनाओं का 'आश्रय' है।

4. आलम्बन— इन्द्रियों के रूप, रस आदि विषय ही वासनाओं की अभिव्यक्ति के 'आलम्बन' हैं।

यद्यपि वासनाएँ अनादि हैं और एक दृष्टि से अनन्त भी हैं लेकिन सभी वासनाएँ इन्हीं हेतु-फल-आश्रय आदि के माध्यम से संगृहीत होती हैं, बनी रहती हैं तथा फलती-फूलती हैं। इस लिए यदि इन हेतु-फल-आश्रय आदि का अभाव कर दिया जाय, तो स्वतः ही वासनाओं का अभाव हो जायेगा। जहाँ तक यह प्रश्न है कि ऐसा कैसे संभव होगा ? तो इसका उत्तर यही है कि सतत साधना के द्वारा ही ऐसा संभव होगा।

शङ्का— देखिये! अभाव का कभी भाव नहीं होता और भाव का कभी अभाव नहीं होता, ऐसा सर्वमान्य विज्ञानसम्मत सिद्धान्त है। इस कारण वासनाएँ तथा उनके हेतु क्लेश आदि जो कि भावरूप हैं, उनका अभाव कैसे संभव है ?

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम् ॥12॥

शब्दार्थ— [अतीतानागतम्] अतीत और अनागत [स्वरूपतः अस्ति] अस्तित्व की दृष्टि से बना रहता है, [अध्वभेदात् धर्माणाम्] धर्मों का कालभेद होने से।

सूत्रार्थ— वस्तु का अतीतभाव और अनागतभाव अस्तित्व की दृष्टि से बना रहता है, धर्मों का कालभेद होने से।

भावार्थ— शंका का निराकरण करते हुए सूत्रकार स्पष्ट कर रहे हैं कि पूर्वसूत्र में कहे गये 'एषामभावे तदभावः' का अभिप्राय यह नहीं है कि वासनाओं और उनके हेतु अविद्या आदि का अत्यन्ताभाव हो जाता है। अभिप्राय यह है कि वे अपनी वर्तमान अवस्था को छोड़कर भूत अवस्था में चले जाते हैं। जितने धर्म हैं, वे सदैव अपने धर्मी में बने रहते हैं। जब तक भविष्यत् अवस्था में रहते हैं, तब तक वे अपना कार्य प्रकट नहीं करते। केवल वर्तमान अवस्था में उनका कार्य प्रकट होता है। फिर जब वे अपना कार्य बन्द कर देते हैं, तो वर्तमान अवस्था से भूत अवस्था में चले जाते हैं। अस्तित्व की दृष्टि से धर्म सदैव धर्मी में बने रहते हैं।

ते व्यक्तसूक्ष्माः गुणात्मानः ॥13॥

शब्दार्थ— [ते] वे पदार्थ के अतीत, वर्तमान व अनागत धर्म, जो कि [व्यक्तसूक्ष्माः] व्यक्त और अव्यक्त होते हैं [गुणात्मानः] गुणस्वरूप हैं।

सूत्रार्थ— वे पदार्थ के अतीत, वर्तमान व अनागत धर्म, जो कि व्यक्त और अव्यक्त होते हैं, गुणस्वरूप है।

भावार्थ— सभी धर्मों की तीन अवस्थाएँ हैं—वर्तमान, अतीत और अनागत अवस्था। वर्तमान अवस्था में धर्म अभिव्यक्त या प्रकट होते है तथा अतीत-अनागत अवस्थाओं में वे अनभिव्यक्त या अप्रकट बने रहते हैं। द्वितीय यह भी ध्यातव्य है कि त्रिगुणी मूल प्रकृति 'धर्मी' है और महत् तत्त्व से लेकर स्थूलभूतों पर्यन्त सब कुछ, उसके विभिन्न धर्मों की अभिव्यक्त अवस्थाएँ हैं अर्थात् सब पदार्थ त्रिगुणों के ही परिणामविशेष हैं। इस प्रकार सब पदार्थ तथा उनकी सब अवस्थाएँ गुणस्वरूप ही हैं।

शंका— जब सत्त्व, रज तथा तमोगुण ही सृष्टि के समस्त पदार्थों के कारण हैं, तो सभी पदार्थ अलग-अलग धर्मी रूप में कैसे प्रतीत होते हैं?

परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम् ॥14॥

शब्दार्थ— [परिणामैकत्वात्] परिणाम के एक होने से [वस्तुतत्त्वम्] वस्तुतत्त्वता है।

सूत्रार्थ— गुणों का पृथक्-पृथक् आत्यन्तिक परिणाम एक होने से सृष्टि के सभी पदार्थों की पृथक्-पृथक् वस्तुतत्त्वता है।

भावार्थ— पूर्वसूत्र में तीनों गुणों को ही समस्त पदार्थों का कारण बताया गया है, लेकिन प्रश्न यह उठता है कि त्रिगुणी पदार्थ की एक वस्तु के रूप में प्रतीति कैसे हो रही है? वस्तुएँ भिन्न-भिन्न धर्मों वाली कैसे प्रतीत हो रही हैं? इनका समाधान यह है कि यह ठीक है कि सत्त्व, रज व तम ही सब पदार्थों के कारण हैं, परन्तु वे क्रमशः अपने प्रकाश, क्रिया व स्थिति स्वभाव में वर्तमग रहते हुए परस्पर अङ्ग-अङ्गी भाव से वर्त रहे हैं। कहीं सत्त्व गुण अङ्गी हैं अर्थात् प्रधान है और रज और तम उसके अङ्ग हैं अर्थात् गौण हैं। कहीं रज अङ्गी है और कहीं तम अङ्गी है, अन्य गुण उनके अङ्ग है। परस्पर अङ्ग-अङ्गी भाव से संयुक्त होने से अर्थात् परिणाम की एकता होने से त्रिगुणी पदार्थ की एक वस्तु के रूप में प्रतीति होती है। गुणों के अङ्ग-अङ्गी भाव में भी नाना प्रकार के भेद होते हैं, जिससे उनके परिणाम भी भिन्न होते हैं। परिणाम की भिन्नता से वस्तुएँ भिन्न-भिन्न धर्मों वाली प्रतीत होती हैं, जैसे यह मिट्टी है, यह जल है, यह श्रोत्रेन्द्रिय है, यह नेत्रेन्द्रिय है इत्यादि।

जिज्ञासा– देखिये! जैसे स्वप्न में चित्त के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु सत्तारूप में नहीं होती, उसी चित्त के द्वारा सब कुछ कल्पित होता है। इसी प्रकार जाग्रत-अवस्था में भी चित्त से भिन्न अन्य कोई वस्तु सत्तारूप में नहीं होती, सब कुछ चित्त के द्वारा ही कल्पित है। चित्त अनादि वासनाओं से चित्रित है इसलिये वह व्यक्ति-वस्तुओं सम्बन्धी भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ करता रहता है। वस्तुतः चित्त के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति, वस्तु आदि सत्तात्मक पदार्थ नहीं है। क्या ऐसा नहीं माना जा सकता? इसका उत्तर है–नहीं। क्योंकि..........

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥15॥

शब्दार्थ– [वस्तुसाम्ये] वस्तु की समानता होने पर [चित्तभेदात्] चित्तों के द्वारा होने वाले बोध में भिन्नता होने से [तयोः] चित्त और वस्तु की [विभक्तः पन्थाः] पृथक्-पृथक् अवस्थिति है।

सूत्रार्थ– वस्तु की समानता होने पर भी चित्तों के द्वारा होने वाले बोध में भिन्नता होने से चित्त और वस्तु की पृथक्-पृथक् अवस्थिति है।

भावार्थ– 'सब कुछ स्वप्नवत् चित्तपरिकल्पित है। चित्तव्यतिरिक्त कुछ भी सत्तात्मक नहीं है।' ऐसा नही माना जा सकता क्योंकि एक ही वस्तु बहुत सारे चित्तों के द्वारा पृथक्-पृथक् रूप में जानी जाती है। ऐसा मानने पर प्रश्न उठता है कि क्या वह वस्तु किसी एक चित्त के द्वारा परिकल्पित है या बहुत सारे चित्तों के द्वारा परिकल्पित है? यदि किसी एक चित्त के द्वारा परिकल्पित है, तो अन्य चित्तों के द्वारा उसका बोध नहीं होना चाहिये और यदि बहुत सारे चित्तों के द्वारा संयुक्त रूप से परिकल्पित है, तो उस वस्तु के विषय में पृथक्-पृथक् धारणाएँ नहीं होनी चाहिये। लेकिन ऐसा होता है कि एक ही वस्तु बहुत सारे चित्तों के द्वारा जानी भी जाती है और तद्-विषयक पृथक्-पृथक् बोध भी होता है। इन सब कारणों की वजह से यही मानना निर्दोष है कि चित्त और वस्तु की पृथक्-पृथक् सत्ता है।

जिज्ञासा– देखिये ! वस्तु की सत्ता चित्तों के अधीन प्रतीत होती है क्योंकि भिन्न-भिन्न चित्तों को एक ही वस्तु अपनी-अपनी वासनाओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होती है। क्या वस्तु-अस्तित्व चित्ताधीन है?

न च एकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥16॥

शब्दार्थ– [न च एक चित्ततन्त्रम्] और नहीं है, एक-एक चित्त के अधीन [वस्तु] वस्तुसत्ता। जब [तदप्रमाणकं] वह वस्तु चित्त के द्वारा नहीं जानी जा रही [तदा किं स्यात्]

तब क्या होगा? उस वस्तु के अस्तित्व आदि का।

सूत्रार्थ— 'चित्त के अधीन वस्तु की सत्ता होती है' यह भी नहीं माना जा सकता क्योंकि जब चित्त के द्वारा वह वस्तु नहीं जानी जा रही होगी, तब क्या होगा, उस वस्तु के अस्तित्व आदि का?

भावार्थ— वस्तु के अस्तित्व को चित्त के अधीन नहीं माना जा सकता क्योंकि जब चित्त उस वस्तु से भिन्न अन्य वस्तुओं को जान रहा होगा या निरुद्ध होगा, तब तो वह वस्तु उस चित्त के द्वारा नही जानी जा रही होगी। तब क्या वह वस्तु अस्तित्वरहित हो जायेगी? द्वितीय एक दोष यह भी है एक काल में तो वस्तु के एक भाग को ही जाना जाता है। वस्तु के जिस भाग को उस समय नही जाना जा रहा हो, क्या वह भाग उस समय अस्तित्वरहित होता है? ऐसा स्वीकार कर लेना तो बड़ा ही हास्यास्पद भी प्रतीत होता है। वस्तु के अस्तित्व को चित्त के अधीन मानने पर यह भी प्रश्न उठता है कि चित्त के माध्यम से ठोस आकार-प्रकार वाली वस्तु कहाँ से उत्पन्न हो जायेगी? इन सब कारणों से यही मानना सर्वथा निर्दोष है कि वस्तु की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, जो कि सभी चित्तों के लिए साधारण है।

शंका— चिन्तनीय है कि यदि वस्तु की सत्ता स्वतन्त्र होती, तो वह सदा चित्त को ज्ञात रहती, लेकिन वस्तु चित्त को कभी ज्ञात होती है, तो कभी अज्ञात। इससे यह बात सिद्ध होती है कि वस्तु का अस्तित्व चित्ताधीन ही है और यदि नहीं है, तो बताईये चित्त को वस्तु ज्ञात-अज्ञात होने का क्या कारण है?

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥17॥

शब्दार्थ— [तद्-उपरागापेक्षित्वात्] उस बाह्य वस्तु के उपराग की अपेक्षा करने वाला होने से [चित्तस्य] चित्त को [वस्तु] बाह्य वस्तु [ज्ञाताज्ञातम्] ज्ञात-अज्ञात रहती है।

सूत्रार्थ— चित्त को बाह्य वस्तु कभी ज्ञात, कभी अज्ञात रहती है, चित्त के उस बाह्यवस्तु के उपराग की अपेक्षा रखने वाला होने से।

भावार्थ— इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा बाह्य विषयवस्तु के चित्त में प्रतिबिम्बत होने को 'उपराग' कहते हैं। बाह्य वस्तु जब इन्द्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा चित्त में प्रतिबिम्बित होती है, तभी पुरुष को वह वस्तु ज्ञात होती है और जब बाह्य वस्तु के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष नही होता, तो उस बाह्य वस्तु से चित्त भी प्रतिबिम्बित नही होता, जिस कारण उस समय वह वस्तु अज्ञात बनी रहती है। पुनः जब इन्द्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा चित्त उस वस्तु से प्रतिबिम्बित होता है, तब पुनः

उस वस्तु को जाना जाता है। इस प्रकार कोई वस्तु कभी ज्ञात, तो कभी अज्ञात बनी रहती है। विषयवस्तु के बोध-अबोध की ऐसी प्रक्रिया होने से वस्तु के अस्तित्व को चित्ताधीन मानने की बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं है।

सङ्गति– हमारे आन्तरिक तात्विक पदार्थ और उनकी व्यवस्था को परिपूर्णता से समझाने के लिए सूत्रकार प्रकरण को आगे बढ़ा रहे हैं–

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥18॥

शब्दार्थ– [सदा ज्ञाताः चित्तवृत्तयः] सदैव ज्ञात हैं चित्त की वृत्तियाँ [तत्प्रभोः] उस चित्त के स्वामी को [पुरुषस्य अपरिणामित्वात्] पुरुष के अपरिणामी होने से।

सूत्रार्थ– अपरिणामी होने से चित्त के स्वामी पुरुष को चित्त की वृत्तियाँ सदैव ज्ञात रहती हैं।

भावार्थ– चित्त का जब बाहरी विषय के साथ सम्बन्ध होता है, तब वह उसे ज्ञात होता है और जब सम्बन्ध नहीं होता है, तब वह उसे ज्ञात नहीं होता है। बाहरी विषयों को जानने तथा न जानने की दोनों अवस्थाओं में चित्त में परिवर्तन होता रहता है क्योंकि चित्त त्रिगुणी प्रकृति का एक परिणाम है और सत्त्व आदि गुण प्रतिक्षण परिणमनशील हैं। इसी लिये चित्त को परिणामी कहा जाता है। लेकिन चित्त के स्वामी साक्षी-पुरुष में यह परिणाम नहीं होता। वह सदैव ही चित्त का साक्षी है, चाहे वह विषयात्मक वृत्तियों से युक्त हो या रहित हो। जब चित्त विषयात्मक वृत्तियों से युक्त होता है, तब साक्षी-पुरुष विषयात्मक वृत्तियों का साक्षी है और जब वृत्तियों से रहित है, तो चित्तगत वृत्त्यात्मक-अभाव का साक्षी है।

प्रश्न– चित्त ही बाह्य वस्तुओं का प्रकाशक तथा अपने स्परूप को जानने वाला हो सकता है। चित्त व्यतिरिक्त किसी अन्य साक्षी-पुरुष को मानने की क्या आवश्यकता है?

न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥19॥

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥20॥

शब्दार्थ– [न] नहीं है [तत्] वह चित्त [स्वाभासम्] स्व स्वरूप को जानने वाला, [दृश्यत्वात्] दृश्य होने से। [एकसमये च] और एक ही समय में [उभयानवधारणम्] विषयबोध तथा स्वयं का बोध नहीं हो सकता।

सूत्रार्थ– वह चित्त अपने स्वरूप को स्वतः ही जानने वाला नहीं है, दृश्य होने से और चित्त के द्वारा एक ही समय में विषयबोध तथा विषय का बोध करते स्वयं के स्वरूप को जानना संभव नहीं है।

भावार्थ— जब चित्त के साथ हमारा तादात्मय प्रगाढ़ नहीं होता, तो हम चित्त में उठते सुख, दुःख, भय, क्रोध आदि के आवेगों को साक्षात् अनुभव करते हैं। इस स्वानुभव से बिल्कुल स्पष्ट है कि चित्त में उठ रहे सुख, दुःख, भय, क्रोध आदि के आवेग चित्त-व्यतिरिक्त किसी अन्य के द्वारा जाने जा रहें, चित्त उन्हे स्वयं नहीं जान रहा है। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि चित्त दृश्य है, वह द्रष्टापुरुष के द्वारा ज्ञेय है, वह अपने स्वरूप को स्वतः ही जानने वाला नहीं है। यदि कोई कहे कि चित्त एक ही काल में विषयबोध तथा विषय का बोध करते स्वयं के स्वरूप को जानता है, तो यह बात मान्य नहीं होगी क्योंकि एक काल में दो ज्ञानों का होना शक्य नहीं है।

प्रश्न— चित्त के द्वारा एक ही काल में विषय का बोध तथा स्व स्वरूप का बोध नहीं किया जा सकता, यह तर्कसंगत होने से मान्य है। इस दोष से बचने के लिए क्यों न ऐसा मान लिया जाय कि इस चित्त के द्वारा तो विषय का बोध किया जाता है तथा एक अन्य चित्त के द्वारा विषय का बोध करते इस चित्त को जाना जाता है ? ऐसा मान लेने से पूर्वोक्त दोष की निवृत्ति भी हो जायेगी तथा चित्त व्यतिरिक्त किसी चेतन को द्रष्टा मानने की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। इसका उत्तर है- ऐसी भी नहीं माना जा सकता क्योंकि........

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥21॥

शब्दार्थ— [चित्तान्तरदृश्ये] विषय का बोध करने वाले चित्त को एक अन्य चित्त का दृश्य मानने से [बुद्धिबुद्धेः] बुद्धि की बुद्धि का [अतिप्रसङ्गः] अतिप्रसंग रूप दोष उपस्थित होगा, [स्मृति-सङ्करः च] और स्मृतियों का संकर रूपी दोष भी प्रसक्त होगा।

सूत्रार्थ— विषय का बोध करने वाले चित्त को एक अन्य चित्त का दृश्य मानने से बुद्धि की बुद्धि का अतिप्रसंग रूप दोष उपस्थित होगा और स्मृतियों का संकर रूपी दोष भी आ जायेगा।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥22॥

शब्दार्थ— [चितेः अप्रतिसंक्रमायाः] प्रतिसंक्रम से रहित चेतन शक्ति(द्रष्टा आत्मा) की [तदाकारापत्तौ] विषयाकार चित्त के प्राप्त होने पर [स्वबुद्धिसंवेदनम्] स्वबुद्धिसंवेदन घटित होता है।

सूत्रार्थ— प्रतिसंक्रम से रहित चेतनशक्ति (द्रष्टा आत्मा) के समीप विषयाकार चित्त के प्राप्त होने पर, चिति को अपने चित्त का अनुभव हो जाता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥23॥

शब्दार्थ– [द्रष्टृदृश्योपरक्तम्] द्रष्टा और दृश्य से रँगा हुआ [चित्तम्] चित्त [सर्वार्थम्] सब स्वरूपों वाला प्रतीत होता है।

सूत्रार्थ– द्रष्टा और दृश्य दोनों से रँगा हुआ चित्त सब स्वरूपों वाला प्रतीत होता है।

भावार्थ– चित्त सत्त्व आदि गुणों का विषम परिणाम है, परन्तु वह सत्त्वगुण प्रधान है। वह सत्त्व गुण की वजह से पदार्थों के स्वरूप का बोध कराने वाला, रजोगुण की वजह से क्रियाशील और तमोगुण की वजह से जाड्यता से युक्त है। यह चित्त का अपना निरपेक्ष स्वरूप है।

प्रकृति का विकार होने से चित्त मौलिक रूप से जड़ है, परन्तु चेतन तत्त्व द्रष्टा पुरुष से उपरक्त होकर चित्त चेतन प्रतीत होता है, यह चित्त का द्रष्टा से उपरक्त हुआ स्वरूप है। चित्त की द्रष्टा से उपरक्तता की वजह से ही किन्हीं-किन्हीं साधकों को चित्त के चेतन तथा उससे भिन्न अन्य किसी पुरुष के न होने की भ्रान्ति हो जाती है।

बाह्य विषयों से प्रतिबिम्बित होकर चित्त उन बाह्य विषयों जैसा भासने लगता है। यह चित्त का दृश्य से उपरक्त हुआ स्वरूप है। चित्त की दृश्य से उपरक्तता की वजह से ही किन्हीं-किन्हीं साधकों को चित्त व्यतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थ के न होने की भ्रान्ति हो जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्रष्टा चेतन व दृश्य बाह्य जगत से उपरक्त चित्त क्रमशः द्रष्टा व दृश्य स्वरूप वाला भासता है, जबकि न वह द्रष्टा है और न ही दृश्य है।

प्रश्न– 'हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वात् तदभावे एषामभावः' इत्यादि व पूर्वोक्त सूत्रों के वर्णन से स्पष्ट है कि चित्त से ही सब व्यवहार चल रहे हैं और उसी में समस्त वासनाएँ संगृहीत हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि यदि चित्त ही समस्त वासनाओं का आश्रय है, तो नियमानुसार वह ही भोग का आश्रय होना चाहिये अर्थात् चित्त ही भोक्ता होना चाहिये क्योंकि जो वासनाओं का अधिष्ठान हो, वह ही भोग का अधिष्ठान हो सकता है। क्या चित्त ही भोक्ता है ? इसका उत्तर है-नहीं, चित्त भोक्ता नहीं है। क्योंकि.......

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥24॥

शब्दार्थ– [तत्] वह चित्त [असंख्येयवासनाभिः] अनगिनत वासनाओं से [चित्रम् अपि] चित्रित हुआ भी [परार्थम्] अन्य के लिये होता है, [संहत्यकारित्वात्] संहत्यकारी होने से।

सूत्रार्थ– वह चित्त अनगिनत वासनाओं से चित्रित हुआ भी अन्य के लिये होता है, संहत्यकारी होने के कारण।

भावार्थ— जो वस्तु कई चीजों के मेल से उपयोगयोग्य बनती है, वह संहत्यकारी कहलाती है, जैसे मकान। यह हम सर्वत्र देखते हैं कि संहत्यकारी वस्तु अपने लिए नहीं होती, बल्कि दूसरे के लिए होती है, जैसे मकान, मकान के लिए नहीं होता, बल्कि किसी व्यक्ति के आवास के लिए होता है। इसी प्रकार चित्त भी सत्त्व, रजस् व तमस् गुणों के अङ्ग-अङ्गी भावरूप मेल से बना है इसलिए वह भी संहत्यकारी है और संहत्यकारी होने से किसी दूसरे के लिए ही होना चाहिये।

यद्यपि यह ठीक है कि चित्त अनेक वासनाओं से चित्रित है और नियमानुसार उसे ही भोक्ता माना जाना चाहिये क्योंकि जो वासना का आश्रय होता है, वह ही भोग का आश्रय बन सकता है, अन्य नही। परन्तु यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि चित्त संहत्यकारी है, जो कि संहत्यकारी होने से स्वयं के लिए नही है, बल्कि परार्थ है अर्थात् पुरुष के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सुखाकार और दुःखाकार जो चित्त है, वह चित्त के भोगार्थ नहीं है और तत्त्वज्ञानाकार जो चित्त है, वह भी चित्त के अपवगार्थ नही है, किन्तु दोनों प्रकार का चित्त परार्थ है अर्थात् असंहत पुरुष के लिए है। साररूप में अभिप्राय यह है कि द्रष्टा 'आत्मा' ही भोक्ता है, चित्त नही।

सूत्रभूमिका— यहाँ तक चित्त और पुरुष का भेद युक्तियों के माध्यम से समझाया गया, लेकिन चित्त क्या है? आत्मा क्या है? कैसा है? इत्यादि बातों को युक्तियों से नही जाना जा सकता क्योंकि यह अनुभव का विषय है। इनका वास्तविक स्वरूप समाधि के द्वारा ही जाना जा सकता है। अब इससे आगे के सूत्रों में समाधि-अवस्था विषयक कुछ विशेष तथ्यों पर प्रकाश डाला जायेगा।

सङ्गति— साधक की आत्मविषयक जिज्ञासाएँ कब निवृत्त होती हैं? इसको ही अगले सूत्र में दर्शाते हैं—

विशेषदर्शिन आत्मभावनाविनिवृत्तिः ॥25॥

शब्दार्थ— [विशेषदर्शिनः] चित्त-पुरुष की परस्पर भिन्नता रूप विशेष तथ्य का साक्षात्कार कर लेने वाले योगी की [आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः] आत्मविषयक जिज्ञासा समाप्त हो जाती है।

सूत्रार्थ— चित्त-पुरुष की परस्पर भिन्नता रूप विशेष तथ्य का साक्षात्कार कर लेने वाले योगी की आत्मविषयक जिज्ञासायें समाप्त हो जाती हैं।

भावार्थ— अन्तर्यात्रा के पथिक की आत्मविषयक कुछ स्वाभाविक जिज्ञासायें होती हैं यथा—मैं कौन हूँ? पूर्वजन्म में मैं क्या था? कैसा था? अगले जन्म में क्या होऊँगा? कैसा होऊँगा?

इत्यादि। यह हम सभी को स्पष्ट है कि पुरुष का चित्त के साथ प्रगाढ़ तादात्मय बना हुआ है, जिससे हमें चित्त और पुरुष की परस्पर पृथक्ता का अहसास नहीं होता। यह हम सभी के साथ और हम सभी के लिए सामान्य तथ्य है क्योंकि हम सभी इसी में जी रहे हैं। चित्त और पुरुष की परस्पर भिन्नता का बोध ही विशेष है। साधना प्रक्रिया के माध्यम से जब साधक इस बोध को पा लेता है, तो वह अनुभव करता है कि मैं पुरुष तो शुद्ध-बुद्ध हूँ तथा चित्त के सभी परिणामों से सर्वथा अछूता हूँ। विद्या-अविद्या, सुख-दुख आदि सभी कुछ चित्त में परिघटित हो रहा है। ऐसा सब अनुभव कर लेने के बाद मैं पूर्वजन्म में क्या था? कैसा था? इत्यादि प्रश्न बिल्कुल ही बचकाने हो जाते हैं। एतादृशी जिज्ञासाएँ ऐसे योगी पुरुष की तिरोहित हो जाती हैं।

जिज्ञासा– चित्त-पुरुष की परस्पर भिन्नता को साक्षात् जान लेने वाले विशेषदर्शी योगी की चित्तावस्था कैसी होती है?

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥26॥

शब्दार्थ– [तदा] तब अर्थात् चित्त-पुरुष की परस्पर भिन्नता को साक्षात् जान लेने पर [विवेकनिम्नम्] विवेक मार्ग संचारी [कैवल्यप्राग्भारम्] कैवल्य रूप गन्तव्य के अभिमुख हो जाता है [चित्तम्] चित्तप्रवाह।

सूत्रार्थ– तब अर्थात् चित्त-पुरुष की परस्पर भिन्नता को साक्षात् जान लेने पर योगी के चित्त का वृत्तिक प्रवाह विवेकमार्ग संचारी और कैवल्य रूप गन्तव्य के अभिमुख हो जाता है।

भावार्थ– चित्त एक सतत प्रवाहमान नदी की भाँति है। जब तक चित्त और पुरुष के मध्य बना तादात्मय शिथिल होकर साधक को चित्त-पुरुष की पृथक्ता का स्पष्ट बोध नहीं होने लग जाता, तब तक चित्त रूपी नदी अविवेक के मार्ग से बहती हुई, विषय रूपी गन्तव्य तक पहुँचती है, परन्तु जब साधना-प्रक्रिया के द्वारा चित्त-पुरुष के परस्पर भेद का आभास होने लगता है, तब चित्त रूपी नदी विवेक के मार्ग से बहती हुई, कैवल्य रूपी गन्तव्य तक पहुँचती है। जल-प्रवाह के बहने वाले स्थान का ढलाऊ होना साहित्यिक भाषा में 'निम्न' कहलाता है तथा वह स्थान जहाँ बहकर आया हुआ जल इकट्ठा होता है, 'प्राग्भार' कहलाता है।

जिज्ञासा– चित्त-पुरुष के परस्पर भिन्नता रूपी बोध से युक्त चित्त में भी बीच-2 में कभी-कभी व्युत्थान की वृत्तियाँ क्यों उत्पन्न हो जाती हैं?

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥27॥

शब्दार्थ– [तत्-छिद्रेषु] उस विवेकज्ञानयुक्त चित्त के छिद्रों में [प्रत्ययान्तराणि] विवेकज्ञानरहित अज्ञानमय वृत्तियाँ उदय हो जाती हैं, [संस्कारेभ्यः] क्षीयमाण पूर्ववर्ती व्युत्थान के संस्कारों के कारण से।

सूत्रार्थ— उस विवेकज्ञानयुक्त चित्त के छिद्रों में विवेकज्ञानरहित अज्ञानमय वृत्तियाँ भी उदय हो जाती हैं, क्षीयमाण पूर्ववर्ती व्युत्थान के संस्कारों के कारण से।

भावार्थ— चित्त-पुरुष के पार्थक्य-बोध की अवस्था में बीच-बीच में होने वाले पार्थक्य-बोध के अभाव रूपी अवकाश को सूत्रकार ने यहाँ 'छिद्र' शब्द से कहा है। जब तक चित्त में चित्त-पुरुष की पृथक्ता का बोध प्रबल रहता है, तब तक उसकी प्रवृत्ति कैवल्य की ओर रहती है, पर जब-2 यह पार्थक्य-बोध शिथिल होने लगता है, तब-तब ममकार व अहंकार के बोध यथा 'यह मेरा है', 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि जगने लगते हैं। इन ममकार व अहंकार के प्रत्ययों को ही सूत्र में 'प्रत्ययान्तराणि' शब्द के द्वारा कहा गया है। प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों होता है ? इसका उत्तर है कि चित्त-पुरुष के पार्थक्य-बोध की अवस्था अभी पूर्ण-परिपक्व नही हुई, जिससे अनादि काल से संचित होते आ रहे व्युत्थान के संस्कार बीच-बीच में प्रबल हो जाते हैं। उनकी प्रबलता के कारण कभी-कभी व्युत्थान की ये वृत्तियाँ चित्त में उठ जाती है।

जिज्ञासा— मध्य-मध्य में उदित होने वाली इन अज्ञानमय वृत्तियों के संस्कारों का नाश कैसे होता है ?

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥28॥

शब्दार्थ— [हानम्] नाश [एषाम्] इन अज्ञानमय वृत्तियों के संस्कारों का, [क्लेशवत्] क्लेशात्मक संस्कारों के नाश के समान [उक्तम्] बताया गया समझना चाहिये।

सूत्रार्थ— मध्य-मध्य में उदित होने वाली इन अज्ञानमय वृत्तियों के संस्कारों की निवृत्ति, क्लेशात्मक संस्कारों की निवृत्ति के समान बतायी गयी समझनी चाहिये।

भावार्थ— साधनपाद के 'प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः' (2/10) तथा 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः' (2/11) सूत्रों में 'प्रतिप्रसव प्रक्रिया' को क्लेशात्मक संस्कारों की आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय बताया गया है तथा 'ध्यान' को स्थूलवृत्तियों से मुक्ति का उपाय बताया गया है। उन्हीं सूत्रस्थ उपायों की ओर इस सूत्र में संकेत किया गया है। कुल मिलाकर अभिप्राय यह है कि मध्य-मध्य में उदित होने वाली इन अज्ञानमय वृत्तियों के संस्कारों का आत्यन्तिक नाश तो चित्त को उसके मूल कारण प्रकृति में लीन कर देने से ही होगा तथा जहाँ तक स्थूल वृत्तियों से छुटकारे की बात है, तो वह ध्यान के सतत अभ्यास से ही हो जायेगी।

जिज्ञासा— जब योगी का चित्त-पुरुष की परस्पर भिन्नता रूपी बोध से भी अनुराग समाप्त हो जाता है, तब क्या घटित होता है ?

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥29॥

शब्दार्थ— [प्रसंख्याने अपि] विवेकख्याति में भी [अकुसीदस्य] अनुराग न रखने वाले योगी

को [सर्वथा विवेकख्यातेः] पूर्णरूप में विवेकख्याति हो जाने से [धर्ममेघः समाधिः] धर्ममेध नामक समाधि दशा प्राप्त होती है।

सूत्रार्थ— विवेकख्याति में भी अनुराग न रखने वाले योगी को पूर्णरूप में विवेकख्याति प्राप्त होती है जिससे उसे धर्ममेध नामक समाधि-दशा प्राप्त होती है।

भावार्थ— चित्त-पुरुष की परस्पर भिन्नता रूपी बोध को शास्त्रीय भाषा में 'विवेकख्याति' व 'प्रसंख्यान' कहा जाता है। सूत्र में कहे गये 'प्रसंख्याने अपि अकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेः धर्ममेघः समाधिः' शब्दों का तात्विक अभिप्राय यह है कि जब साधक का चित्त-पुरुष के पार्थक्य-बोध से भी अनुराग समाप्त हो जाता है, तो चित्त-पुरुष का पार्थक्य-बोध अपने चरम शिखर पर पहुँच जाता है, जिससे योगी को समाधि की एक विशिष्ट अवस्था प्राप्त होती है, जिसे योगशास्त्र की भाषावली में 'धर्ममेघ' कहा जाता है।

जिज्ञासा— 'धर्ममेघ' नामक समाधि दशा प्राप्त होने पर क्या घटित होता है?

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥30॥

शब्दार्थ— [ततः] उससे अर्थात् धर्ममेघ समाधि से [क्लेशकर्मनिवृत्तिः] क्लेश तथा कर्माशय की समाप्ति हो जाती है।

सूत्रार्थ— उस धर्ममेघ समाधि से योगी के अविद्या आदि क्लेश तथा कर्माशय की समाप्ति हो जाती है।

भावार्थ— उस धर्ममेघ समाधि से योगी के अविद्या आदि क्लेश तथा प्रारब्ध कर्माशय व्यतिरिक्त समस्त संचित कर्माशय नष्ट हो जाता है। अविद्या आदि क्लेशों के नष्ट हो जाने से योगी जीता हुआ ही मुक्त-सा हो जाता है तथा मरने पर सदैव के लिए मुक्त हो जाता है।

जिज्ञासा— अविद्यादि क्लेश तथा कर्माशय के निवृत्त हो जाने पर क्या घटित होता है?

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥31॥

शब्दार्थ— [तदा] तब अर्थात् क्लेशों व कर्माशय की निवृत्ति हो जाने पर [सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्य] सब आवरण और मलों से रहित हुए चित्त के ज्ञानात्मक प्रकाश के [आनन्त्यात्] असीम हो जाने से [ज्ञेयम्] ज्ञेय विषय [अल्पम्] अत्यल्प रह जाता है।

सूत्रार्थ— अविद्या आदि क्लेशों तथा कर्माशय की निवृत्ति हो जाने पर, सब आवरणों और मलों से रहित हुए चित्त के ज्ञानात्मक प्रकाश के असीम हो जाने से योगी पुरुष के लिये ज्ञेय-विषय अत्यल्प रह जाता है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणनाम् ॥32॥

शब्दार्थ— [ततः] उसके बाद अर्थात् धर्ममेघ समाधि के द्वारा क्लेशों व कर्माशय की निवृत्ति हो जाने के बाद [कृतार्थानाम्] कृतकार्य हुए [परिणाक्रमसमाप्तिः गुणानाम्] गुणों के परिणाम क्रम की समाप्ति हो जाती है।

सूत्रार्थ— धर्ममेघ समाधि के द्वारा क्लेशों व कर्माशय की निवृत्ति हो जाने के बाद कृतकार्य हुए सत्व आदि गुणों के परिणाम क्रम की भी समाप्ति हो जाती है।

जिज्ञासा— 'क्रम' का क्या स्वरूप है?

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥33॥

शब्दार्थ— [क्षणप्रतियोगी] क्षण के साम्मुख्य से बाधित होनेवाला [परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः] परिणाम के अवसान पर गृहीत होने वाला [क्रमः] क्रम कहा गया है।

सूत्रार्थ— क्षण के साम्मुख्य से बाधित होनेवाला व परिणाम के अवसान पर गृहीत होने वाला 'क्रम' कहा गया है।

जिज्ञासा— शास्त्र में बहुधा प्रयुक्त कैवल्यावस्था का क्या स्वरूप है?

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥34॥

शब्दार्थ— [पुरुषार्थशून्यानाम् गुणानाम्] पुरुष के प्रयोजन से विरत हुए गुणों का [प्रतिप्रसवः] अपने कारण में लीन हो जाना [कैवल्यम्] कैवल्य है [स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः] अथवा स्वरूप में प्रतिष्ठित चेतनशक्ति की अवस्था कैवल्य है, [इति] ऐसा समझ सकते हैं।

सूत्रार्थ— पुरुष के प्रयोजन से विरत हुए सत्व-रज-तम गुणों का अपने कारण मूल प्रकृति में लीन हो जाना 'आत्मा की कैवल्यावस्था' है अथवा ऐसा भी समझ सकते हैं कि अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित चेतनशक्ति की अवस्था 'कैवल्यावस्था' है।

हरिद्वार की पुण्यभूमि पर

दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट) का बहुआयामी सेवा प्रकल्प

पतञ्जलि योगपीठ

उद्देश्य एवं संकल

हजारों बीघा जमीन पर स्थापित होने जा रहे पतञ्जलि योगपीठ का शिलान्यास ७ दिसम्ब २००३ को सम्पन्न हुआ है। इस बहु-आयामी योगपीठ पर लगभग सौ करोड़ रुपये व्यय होने का है। यह योगपीठ विश्व भर में अपने ही स्तर का विशालतम संस्थान होने का गौरव प्राप्त करेगा। इ प्रकल्प का महान् उद्देश्य है- योग, आयुर्वेद और वैदिक संस्कृति की गरिमा देश-विदेश में स्थापित क भारत को पुनः विश्व-गुरु के वर्चस्वी पद पर प्रतिष्ठित कराना जिससे विश्व-शान्ति और मानव-कल्य पथ प्रशस्त हो सके। पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थात् धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष ही मानव के क्रमिक विकास का पथ है, जिसे पार करने के लिये शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि सबल बनना होगा, जिसमें योग, आयुर्वेद एवं वेद ही हमारे सम्बल, हमारे सहायक, हमारे प्रेरक और पथ-प्रदर्शक बन सकते हैं। इन तीनों ही विधाओं पर गहन मंथन, अनुसंधान और प्रशिक्षण की व्यव पतंजलि योगपीठ में प्रस्तावित है। इस महान् सारस्वत यज्ञ में विश्व-नागरिक की हैसियत से हर व्यक्ति आहुति पड़नी चाहिए तभी यह यज्ञ सफल होगा।

साधन एवं साधन

साधना की इस तपोभूमि को स्वावलम्बी बनाने के लिये कुछ मूलभूत साधनों का जुटाना नितां आवश्यक है। अतः पतंजलि योगपीठ में एक हजार साधकों के लिये सुविधाजनक आवास व्यवस्थ योगसाधना मन्दिर, अनुसंधान कक्ष, पुस्तकालय, चिकित्सालय, जड़ी-बूटी उद्यान, गोशाला, यज्ञशाल प्रवचन भवन, फार्मेसी, प्रकाशन-गृह, मुद्रणालय, कर्मचारियों, स्वयंसेवकों, संतों व आगन्तुकों के लि निवास, कार्यालय भवन, अन्नपूर्णा गृह आदि का विशाल भू-खण्ड पर निर्माण प्रस्तावित है। यह योगपी भविष्य में देश-विदेश के योगाचार्यों, आयुर्वेदाचार्यों, दार्शनिकों, अध्यात्मवादियों, वैज्ञानिकों औ शोध-कर्त्ताओं का संगम स्थल सिद्ध होगी। भारतीय प्रज्ञा का देश-देशांतर में विविध भाषाओं प्रचार-प्रसार का महत् कार्य इस योगपीठ द्वारा सम्पादित होगा। इस योगपीठ द्वारा प्रशिक्षित योग-साधक धर्म-प्रचारक और वैद्य विश्वभर में योग, वेद और आयुर्वेद का वर्चस्व स्थापित कर सकेंगे। विशुद्ध रूप यह योगपीठ ऋषिकल्प तपोभूमि का साकार एवं शाश्वत रूप ग्रहण कर मानव कल्याण एवं विश्व-शान्ति लिये कार्य करेगा। अतः इस योजना में सहभागी बनना आपका अधिकार ही नहीं, कर्त्तव्य भी है। इस प्रका के बहु-आयामी संस्थान से जुड़ना निश्चय ही हम भारतीयों के लिये गौरवशाली अनुभव होगा।

महायज्ञ में आ सहयो

आपने अपने परिवार व बच्चों के सुख के लिये लाखों कमाये व खर्च किये हैं, समाज से आपको सब कुछ मिला, उस समाज के लिये आपने क्या किया है? तो आइए! स्वार्थ बाह निकल कर परमार्थ के प्रशस्त क्षेत्र में प्रवेश करें। समाज की सुरक्षा एवं सम्पन्नता में ही हमारे जीवन क सार्थकता निहित है। योगपीठ की सदस्यता व सहयोग की निर्धारित राशि इस प्रकार है:

१. संस्थापक सदस्य- 5,00,000 २. संरक्षक सदस्य- 2,51,000
३. आजीवन सदस्य- 1,00,000 ४. विशिष्ट सदस्य- 51,000
५. सम्मानित सदस्य- 21,000 ६. सामान्य सदस्य- 11,000

इसके अतिरिक्त भी यदि आप सहयोग देना चाहते हैं तो स्वागत है।

Price : Rs. 50/

89040498003